1 प्राक्कथन 3
2 पूज्यपाद ब्रह्मचारी कृष्णादत्तजी महाराज 3
3 सृष्टि रचना का महत्व 7
मुनिवरो! ये सब क्या हैं? 7
4 आत्मतत्व विवेचना 9
आत्मवेत्ता याज्ञवल्क्य 9
5 आत्मतत्त्व दर्शन 10
याज्ञवल्क्य मैत्रीय संवाद 10
संकल्प विकल्प 11
संकल्पवादी महात्मा प्रहलाद 11
संकल्पवादी शुकदेव 12
महात्मा ध्रुव 13
योगीराज कृष्णा 13
सत्य शुद्ध संकल्पमय आत्मा 15
6 जीव सम्पन्न शरीर का महत्व 17
7 मधु विद्या 19
8 आत्म चेतना 21
9 आत्म संज्ञा 23
प्रजापति का इन्द्र व विरेचन को आत्म उपदेश 23
10 भेद भेद में जीव संज्ञा 24
11 योग साधना 26
योग ही मानव का चरम लक्ष्य है 26
12 योग में अनुसंधान 26
13 यम प्रभु दर्शन 27

प्रथम सोपान अहिंसा परमो धर्मः 27

सत्य 28

अस्तेय 29

श्रद्धा वीर्य स्मृति प्रज्ञा पूर्वकः 29

अपरिग्रह 30

योग में अनुशासन तप आहार 30

योग में अनुशासन स्वाध्याय 32

आत्म विश्वास में आत्म बल इश्वर प्रणिधान 33

आसन 35

प्राणायाम 36

प्राणायाम 2 37

14 प्राण की अपान में आहुति 37

15 ध्यान योग द्वारा द्वितीय विधि 38

16 प्रत्याहार 39

17 योग में अबाध गति 40

योगी कौन होता है 40

18 ब्रह्मरन्ध्र में नाद 41

19 जीवन मुक्त 41

१ **प्राक्कथन**

आत्मा का विषय अत्यन्त गहन व गम्भीर है। उसको विक्षिप्त बुद्धि से कदापि जाना नहीं जा सकता। हमारे प्राचीन ऋषियों ने योग में जड़ चेतन के रहस्यों को समझा और वे ही इसका उपदेश कर गये हैं। पूज्य ब्रह्मचारी कृष्णदत्तजी महाराज ने आत्म विद्या के विषय को अपने पूज्यपाद गुरुदेव आदि ब्रह्माजी से अपने पूर्व जन्म में अध्ययन किया था और योग की क्रियात्मक निधि को प्राप्त किया था। प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम भाग में उनके योग मुद्रा में दिए गए प्रवचनों के आधार पर ऋषिकृत ग्रन्थों में से चयन करते हुए 'आत्म स्वरूप' के विषय को जानने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक मानव सुख की खोज में रहता है और उसे वह बाहर से लाना चाहता है। इस प्रयास में जीवन समाप्त हो जाता है और वह निराश हो रुदन करता हुआ, हाय हाय करता हुआ अनेकानेक शरीरों में परिवर्तित होता रहता है। लोहे के कारागार के समान नये नये शरीर इसे घेरे रहते हैं। अरे, मानव ! सुख तो अपने ही में है। आनन्द का स्रोत तो आत्मा में ही बह रहा है। आत्मा ही अमृत की नाभि है, जो एकमात्र सुख व शान्ति का स्रोत है। नक्कारे का शब्द प्रिय लगता है। यदि उसे निरन्तर अपने अधिकार में लाना है तो एकमात्र उपाय यही है कि नक्कारे को पकड़ लो और उसके बजाने वाले को अपने आधीन कर लो। प्रिय शब्द (सुख) पकड़ा जा सकता है।

मानव जीवन का उद्देश्य ही आत्म ज्ञान को प्राप्त करना है। 'आत्मा को जानो' यह ही उपदेश हमारे पूर्वज कर गये हैं। उस आत्मा को जानकर सब कुछ जान लिया जाता है, सब कुछ पा लिया जाता है, कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती।

द्वितीय भाग 'योगसाधना' का पूज्य ब्रह्मर्षि कृष्णदत्त जी महाराज के योग मुद्रा में दिये गये प्रवचनों के आधार पर विशेषतः संगृहीत है, जिसमें योग के मार्मिक रहस्य का भेदन करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। योगार्थी इससे लाभ लें तो मेरा यह परिश्रम सफल हो सकेगा। फरवरी, 1977 क्षेत्रपाल विद्यार्थी

२ **पूज्यपाद ब्रह्मचारी कृष्णदत्तजी महाराज**

उत्तर प्रदेश के ग़ाज़ियाबाद जनपद में मुरादनगर के निकट स्थित खुर्रमपुर सलीमाबाद गाँव में, एक निर्धन, अशिक्षित, कबीर पन्थी जुलाहे के घर इनका जन्म हुआ। उल्टी प्रक्रिया में, अर्थात् उल्टे पैरों पैदा होने पर नाम रखा गया कृष्णदत्त। गाँव के अशिक्षित परिवेश में इनके जन्म समय का कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता। फिर भी उनके परिवार के सदस्यों, उनके गाँव के समवयी शिक्षित महानुभावों के संकेतों और अन्य तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनका जन्म, सन् 1942 के उत्तर चातुर्मास्यकाल में हुआ।

कहते हैं, जब पूज्य ब्रह्मचारी जी लगभग दो मास की अवस्था के ही थे, एक दिवस उनकी माता ने उन्हें शवासन में लेटा दिया। कुछ समय उपरान्त शिशु की गर्दन दोनों ओर हिलने लगी और होठ फड़फड़ाने लगे। इस अवस्था में शिशु को पाकर परिवार के सदस्य चकित हुए। इस क्रिया की पुनरावृत्ति होने पर गाँव के ओझा पण्डित का सहारा लिया गया और भूत प्रेत का प्रभाव मानकर तदनुरूप शिशु का उपचार प्रारम्भ हो गया और अनेक प्रकार से यातनाएँ दी जाने लगीं। परन्तु उस विशेष अवस्था में जाने की घटनाएँ बढ़ती रहीं। आयु बढ़ने के साथ वाणी स्पष्ट होने पर जब भी बाल्य ब्रह्मचारी जी उस विशेष अवस्था में जाते तो मन्त्र पाठ और कथा वाचन स्पष्ट सुनाई देते। आश्चर्य चकित ग्रामवासी गर्दन हिलने और कथा सुनने के इस विचित्र अनुभव को अपने अपने आधार पर ग्रहण करने लगे।

छः वर्ष की आयु में उन्हें भयानक चेचक निकली। उन्हें शवासन में लेटाये रखा जाता और उस विशेष अवस्था में जाकर उनके प्रवचन होते ही रहते थे। दोनों ओर गर्दन हिलने से उनका पूरा मुख मण्डल और सिर छिल छिल कर फोड़े की तरह बन गये थे। पड़ौस के बूढ़े लोगों को अभी भी वह समय याद है और कोई यह नहीं कहता था कि बालक कृष्णदत्त बच जायेगा। परन्तु प्रभु की कृपा से उसकी अमूल्य निधि मानव कल्याण के लिये सुरक्षित रही।

सामान्यतः उन्हें करवट से ही सुलाया जाता था, लेकिन जब कभी शवासन की स्थिति बनती तो कुछ समय के पश्चात् उसी प्रकार गर्दन हिलने लगती और कथा प्रारम्भ हो जाती। धीरे धीरे गाँव के लोगों को उनकी कथाएँ समझ आने लगीं। उनके पिता उनकी इस अवस्था में जाने से बहुत चिन्तित रहते थे। जब वे 7 वर्ष की अल्पायु के ही थे, तो उनके पिता ने अपने गाँव के चौधरी खचेडू सिंह और चौधरी इन्द्रराज सिंह त्यागी के यहाँ उन्हें नौकर रख दिया। वहाँ ब्रह्मचारी जी पशुओं को जङ्गल में चराना, घास लाना, पशुओं का चारा पानी भरना, मेहमानों की सेवा करना, हुक्का भरना, पैर दबाना, कोल्हू में गन्ना डालना, गुड़ बनाना आदि काम करते थे। वहाँ भी जब कभी वह विशेष अवस्था बनती तो कथा प्रारम्भ हो जाती थी।

पशु चराते हुए साथी ग्वाले, बालक ब्रह्मचारी की इच्छा न होते हुए भी बल से, हाथ, पैर तथा सिर पकड़कर सीधा लेटाते और

अपेक्षित रूप में गर्दन हिलने एवं कथा सुनने का मनोरञ्जन करते थे। धीरे धीरे आसपास के अन्य गाँवों में विचित्र बालक का तथाकथित परिचय बढ़ने लगा। ग्राम के विवाहादि उत्सवों में बालक ब्रह्मचारी को बुलाया जाने लगा और दिव्य प्रवचन क्रिया को मनोरञ्जन का साधन बनाया जाने लगा। इस प्रकार उनके जीवन का सामान्य शैक्षिक काल औपचारिक शिक्षा से वञ्चित रहा।

अन्य लोगों की तरह ब्रह्मचारी जी भी इस अवस्था को व्याधि अथवा अन्य प्रभाव ही मानते थे। उनके परिवार के सदस्य अनेक प्रकार से उन्हें प्रताड़ित करते थे। ब्रह्मचारी जी कष्टों से परिपूर्ण अपने जीवन को भार रूप में व्यतीत कर रहे थे। एक दिवस, इनकी कथा प्रक्रिया के पश्चात् पिता द्वारा अत्यधिक पिटाई किये जाने पर इनके मन में विचार आया कि ''यहाँ कष्ट पाते रहने से तो अच्छा है, कहीं जाकर अपना इलाज कराया जाये, अन्यथा जीवन समाप्त कर दिया जाये!'' लगभग 15 वर्ष की अवस्था में, शीत काल की मध्य रात्रि में, लगभग एक बजे, अपने परिवार और गाँव को छोड़कर भाग खड़े हुए। उपचार की आशा में एक डेढ़ मास इधर उधर भटकते हुए, बरनावा में श्री धर्मवीर त्यागी के घर जा पहुँचे। त्यागी जी उनके पूर्व नियोक्ता इन्द्रराज सिंह से सम्बन्धित थे और उनका परिवार इन्हें जानता था। वहाँ उनकी कथा होती रहती। कई मास कथा चलती रही। ग्रामीण लोग आते और सुनते रहते थे; कुछ श्रद्धा से समझते हुए सुनते और अन्य कौतुहल से।

बरनावा (वारणावत) मेरठ जनपद में हिण्डन और काली नदी के सङ्गम पर स्थित है। यहीं महाभारत काल का ऐतिहासिक 'लाक्षागृह' (लाखामण्डप) का टीला है, जहाँ कौरवों ने पाण्डवों को अग्नि में जलाने का षड्यन्त्र रचा था और सौभाग्य से पाण्डव वहाँ से बच निकले थे। यह टीला बड़े विशाल रूप में आज भी विद्यमान है। इसी स्थान से महर्षि महानन्दजी का सम्बन्ध ब्रह्मचारी जी के भौतिक पिण्ड से हुआ, ऐसा बरनावा निवासियों से मालूम हुआ। उनका कथन है कि जिस समय प्रारम्भ में यहाँ 5 6 मास तक पूज्य कृष्णदत्त जी की कथा हुई तो कभी कथा में महानन्द मुनि का कोई सङ्केत, अथवा नामोच्चारण नहीं हुआ था। एक दिन ब्रह्मचारी जी अपने चार साथियों के साथ घूमते हुए इस लाखामण्डप को देखने गये। थोड़ी देर घूम फिरकर आ गये और उसी दिन रात्रि की कथा में महानन्द जी ने यह कहा कि ''गुरु जी! आज तो आप हमारे आश्रम में गये थे।'' तब से उनके प्रवचनों में महानन्द जी के प्रश्नोत्तर होने लगे।

उनके प्रवचनों से स्पष्ट हुआ कि ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी पूर्व जन्मों में शृंगी ऋषि रहे हैं और महानन्द जी उनके सूक्ष्मशरीरधारी, योगसिद्ध शिष्य रहे हैं। यह भी ज्ञात हुआ कि महाभारत की लाक्षागृह अग्निकाण्ड स्थली पूर्व समयों से महानन्दजी की तपोभूमि रही है। और पू॰ ब्रह्मचारी कृष्णदत्तजी के यहाँ पदार्पण तक महानन्द जी श्राद्धरूप में तपस्या करते रहे।

ब्रह्मचारी जी के हृदय में इस टीले को आश्रम में परिवर्तित करने की प्रेरणा बलवती होने लगी। लोग इनके प्रवचनों की सार्थकता समझने लगे और धीरे धीरे इनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। समीपवर्ती गाँवों में उन्हें प्रवचन के लिये बुलाया जाने लगा। इन्हीं दिनों यज्ञों में उनकी रूचि बढ़ने लगी और जिस परिवार में प्रवचन/कथा करते, वहाँ यज्ञ करने की प्रेरणा भी देते। विशेष रूप से उनकी विदाई के समय यज्ञ होने लगे। तभी ब्रह्मचारी जी ने लाक्षागृह टीले पर भी यज्ञों के आयोजन की प्रेरणा दी।

आर्य जगत् के अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् इस अशिक्षित ग्रामीण युवक की विचित्र अवस्था, दिव्य प्रवचन शैली और प्रवचनों में विलक्षण वैदिक प्रभाव को देखकर इनकी ओर आकर्षित हुए। उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित आचार्य सुरेन्द्र शर्मा जी गौड़,, श्री ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी की विलक्षण प्रवचन क्रिया एवं प्रवचन शैली से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने साप्ताहिक पत्र, 'आर्यमित्र' में इनके विषय को प्रकाशित कराया। उन्होंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को लिखा और वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट किया कि उनकी यह अवस्था योग की दिव्य मुद्रा है, समाधि है।

सन् 1958 59 ई॰ में, वैद्य पं॰ प्रकाश चन्द्र जी शास्त्री ने विनय नगर के आर्य समाज प्रधान को ब्रह्मचारी जी के विषय में बताया और इस प्रकार ब्रह्मचारी जी को दिल्ली बुलाने की योजना बनने लगी। अन्ततः शास्त्री जी, आकाशवाणी के डा. बनवारी लाल जी शर्मा एवं अन्य महानुभावों के प्रयत्न से दिनाङ्क 28 दिसम्बर, 1961 को ब्रह्मचारी कृष्णदत्त जी महाराज आर्यसमाज, विनय नगर में पधारे। अगले दिन, वहाँ, 'भारत सेवा समाज' के स्थान पर इनका प्रवचन लगभग 250 जिज्ञासुओं ने सुना और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। दिल्ली में कई दिन तक प्रवचनों के कार्यक्रम होते रहे। 'आत्मा परमात्मा', 'प्राण की महत्ता', 'अनावृष्टि अतिवृष्टि' आदि अनेक विषयों पर इनके दिव्य प्रवचन हुए। अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों, दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों ने इनके प्रवचनों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुना और गम्भीर विश्लेषण हुआ।

1 जनवरी, 1962 को इनके प्रवचन को प्रथम बार टेप रिकॉर्ड किया गया। प्रत्येक दिन नवीन् विषय होता था। धीरे धीरे प्रवचनां

को सुनने वालों की संख्या बढ़ने लगी। 7 जनवरी को एक विशेष यज्ञ के पश्चात् लगभग दस हज़ार लोगों की भव्य उपस्थिति में प्रवचन हुआ। सौल्लास निर्णय लिया गया कि इनके बहुमूल्य प्रवचनों की निधि को रिकार्ड किया जाना चाहिये और इनकी यौगिक क्रिया एवं प्रवचन सामग्री पर अनुसन्धान होना चाहिये। शीघ्र ही 'वैदिक अनुसन्धान समिति, नयी दिल्ली' का गठन किया गया। इस प्रकार प्रवचन टेप होने लगे और प्रकाशन कार्य प्रारम्भ हो गया। उधर ब्रह्मचारी जी का जीवन, यज्ञों और प्रवचनों में अत्यन्त व्यस्त हो गया।

ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा से लाक्षागृह टीले पर एक यज्ञशाला का निर्माण कराया गया और लाक्षागृह को एक आश्रम का रूप दिया गया। तदनन्तर, बरनावा आश्रम में, हर वर्ष, शिवरात्रि एवं होलिका पर्व के मध्य दिनों में लगातार आठ दिनों का पूज्य ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा से एवं जनता जनार्दन के सहयोग से, चतुर्वेद पारायण यज्ञों का आयोजन हो रहा है और इसी प्रकार, रक्षाबन्धन के दिवस सामवेद पारायण यज्ञ सम्पन्न होता है। पिछले कुछ वर्षों से आश्विन मास की कृष्णपक्ष की तृतीया को पूज्य ब्रह्मचारी जी के जन्म दिवस के रूप में मनाया जा रहा है और इस दिन भी सामवेद पारायण यज्ञ का आयोजन होता है। आजकल आश्रम में पाँच भव्य यज्ञशालाएँ हैं, जहाँ हज़ारों हज़ारों की संख्या में वैदिक श्रद्धालु यज्ञ एवं प्रवचनों के दिव्यामृत से लाभान्वित होते हैं।

ब्रह्मचारी जी की ही प्रेरणा से लाक्षागृह आश्रम में निःशुल्क वैदिक शिक्षा के लिये एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना हुई। ब्रह्मचारी जी के योगसिद्धात्मा शिष्य के ही नाम पर विद्यालय का नामकरण हुआ 'श्री महानन्द संस्कृत महाविद्यालय'। सन् 1965 में लाक्षागृह आश्रम में यज्ञों एवं शिक्षण के प्रबंधन के लिये 'श्री गांधी धाम समिति' नाम से एक समिति का गठन हुआ। शनैः शनैः, यथापेक्षा, यहाँ पर्याप्त कमरे, गऊशाला, खेती के लिये भूमि तथा ट्यूबवेल और अन्य साधनों का प्रबन्ध हो गया। सम्प्रति, इस संस्कृत महाविद्यालय में लगभग 150 छात्र, वैदिक शिक्षण पद्धति के आधार पर, आचार्य स्तर तक विभिन्न विषयों में प्रबुद्ध अध्यापकों द्वारा शिक्षार्जन कर रहे हैं और यहाँ के शिक्षक ब्रह्मचारी जी द्वारा वेद एवं यज्ञ प्रचार की ज्योति को प्रभावी रूप से देदीप्त कर रहे हैं।

पूज्य ब्रह्मचारी जी की योग मुद्रा में जाने की प्रक्रिया पर गम्भीर अनुसन्धान की आवश्यकता है। यूं तो इनके प्रवचनों में ही महर्षि महानन्द जी ने इस विषय में एवं पूज्य ब्रह्मचारी जी से जुड़े सभी प्रश्नों पर व्यापक प्रकाश डाला है और यह एकदम स्पष्ट है कि पूज्य ब्रह्मचारी जी आदि ब्रह्मा के वरिष्ठ शिष्य शृंगी ऋषि की आत्मा थे और इनका यह जीवन आदि ब्रह्मा जी के एक श्राप का परिणाम था। त्रेता काल में इनके ही द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करवाने से भगवान् राम अवतरित हुए थे। परन्तु उस विशेष समाधि अवस्था में दिये जाने वाले इनके प्रवचन, अन्तरिक्ष स्थित ऋषि मण्डल में सूक्ष्म शरीरधारी योगसिद्ध आत्माओं को सम्बोधित होते थे और उनका यह शरीर एक दिव्य यन्त्र की भान्ति उस आकाशवाणी से पृथ्वीमण्डल पर हम लोगों को प्रेरणार्थ योजित करता था। उनकी यह प्रवचन प्रक्रिया यौगिक थी, जिसे प्राणसत्ता और योग को जानने वाले ही ग्रहण कर सकते हैं। अनेक लोगों ने इनकी यौगिक प्रक्रिया पर अनुसन्धान किये हैं।

1964 में, प्रतिष्ठित योग विद्वान् स्वामी योगेश्वरानन्द जी ने इनकी योग मुद्रा एवं प्रवचन प्रक्रिया पर विशेष अनुसन्धान किये और अपने यौगिक बल से इनकी प्रतिभा को जाना। स्वामी प्रभु आश्रित जी, स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती, डॉ. रणवीर सिंह शास्त्री, पण्डित धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, महान् वैयाकरण एवं दार्शनिक डा. श्री हरिदत्त जी शास्त्री, डा. विश्वनाथ प्रसाद जी, डा. देशमुख महोदय, श्री पं० वीरसेन जी वेदश्रमी आदि अनेक विद्वानों ने ब्रह्मचारी जी की योग मुद्रा एवं प्रवचन प्रक्रिया पर अनुसन्धान किये और अपनी शुभ सम्मतियाँ प्रकट कीं।

सन् 1969 में, माननीय विज साहब ब्रह्मचारी जी को हैदराबाद ले गये। वहाँ तत्कालीन शिक्षामन्त्री एवं भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री नरसिंहाराव जी ने, खण्डुराव देसाई एवम् अन्य राजनीतिज्ञों के साथ ब्रह्मचारी जी के प्रवचनों का आयोजन करवाया। 'राजा का धर्म' विषय पर हुए एक प्रवचन को सुनकर सब आश्चर्य चकित रह गये। भूतपूर्व मन्त्री श्री बलराम जाखड़ एवं भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद के सुपुत्र डा. मृत्युञ्जय प्रसाद जी ने भी इनके प्रवचनों को सुना और आश्चर्यबद्ध होकर प्रशंसा की।

इनकी योग मुद्रा में जाने की प्रक्रिया बड़ी विचित्र थी। प्रवचन से पूर्व इन्हें कोई ज्ञान नहीं होता था कि ये किस विषय पर प्रवचन करेंगे और प्रवचन के उपरान्त भी यही दशा बनी रहती थी। उन्हें ज्ञान नहीं रहता था कि उन्होंने कब, कैसे और क्या कहा। प्रारम्भ में ब्रह्मचारी जी चादर लेकर शवासन में लेट जाते थे। चादर ओढ़ने का उद्देश्य बाह्य अशान्त प्रभाव से बचना था। 4 5 मिनट तक उन्हें सामान्य रहने का आभास रहता था। उसके बाद उन्हें पूर्व स्थिति का कोई ज्ञान नहीं रहता था। योगविदों के अनुसार, इसके बाद इनके प्राण एकीकृत होकर ब्रह्मरन्ध्रोन्मुखी हो जाते थे और समाधि लग जाती थी। पूज्य ब्रह्मचारी जी अन्तरिक्ष के किसी ऐसे मण्डल से सम्बन्ध स्थापित कर लेते, जहाँ योगसिद्ध आत्माएँ उनके पूर्व जन्मों में सञ्चित दिव्य ज्ञान की अपेक्षा में सभा योजित विद्यमान रहती थीं। इस

प्रकार, लगभग दस मिनट तक उस अवस्था में लेटे रहने के पश्चात् वे दोनों हाथों से चादर को मुख से उतारते थे और हाथों को वक्षस्थल पर विचित्र पाठ मुद्रा में लाते थे। गर्दन के ऊपर का भाग दायें बायें, दोनों ओर तीव्र रूप से गति करने लगता था, सम्भवतः यह प्राणों का सङ्घात था और अति मधुर ध्वनि में मन्त्र गायन प्रारम्भ हो जाता था।

मन्त्र गायन में वेद मन्त्रार्थों की प्रतिभा का भान तो होता ही है, साथ ही वैदिकोत्तर काल में विकसित होने वाली किसी वेद भाष्यी भाषा का बोध भी होता है। सम्भवतः यह ब्राह्मी का प्राचीन रूप है। मन्त्र गायन की समीक्षा से ऐसा प्रतीत भी होता है, जैसे उस काल में ऐसे विशिष्ट विद्यालय, अथवा ऋषि कुल प्रणाली रही हो, जहाँ अपने प्रकार की ऐसी समवैदिकी भाषा का विकास होता रहा था। गायन तो तत्सम छन्दोबद्ध ही रहा है, परन्तु शब्द रूप एवं मन्त्र विन्यास अपनी अलग विधा का बोध कराते हैं। लगभग दस मिनट तक मन्त्रोच्चारण चलता था। मन्त्रोच्चार के उपरान्त मनोहारी एवं मधुर ध्वनि में आशीर्वचन, (जीते रहो!) सुनाई पड़ता था। और, ‘देखो, मुनिवरो!’ सम्बोधन के साथ, एक मनोहारी और वृद्ध ऋषि तुल्य भाषा में लगभग 40 मिनट का ज्ञानगर्भित एवं विज्ञान मार्जित प्रवचन होता रहता था। कभी कभी प्रवचन की अवधि अधिक भी होती थी।

प्रवचन की धारा प्रवाहिता, विषय विन्यास एवं दर्शन का स्तर इतना उत्कृष्ट एवं वैज्ञानिक रहा है, जिसे सुनकर आज भी बड़े बड़े विद्वानों का मस्तिष्क कल्पना में नृत्य करने लगता है। प्रवचन में इतनी सहजता, सरसता और सात्विकता होती है कि अल्पज्ञ श्रोता विषय सामग्री के ग्रहण स्तर में न होता हुआ भी बँधा हुआ सा रहता है।

प्रवचनों की विषय सामग्री, ऋषि मुनियों के वैदिक यौगिक एवं दार्शनिक अनुभवों, दृष्टान्तों, मानव धर्म और मानवीयता के तथ्यों से ओतप्रोत रहती है। सम्पूर्ण मानवता के लिये ग्राह्य वैदिक ज्ञान और आचरण की ये अनूठी चर्चाएँ, न केवल इतिहास, विज्ञान एवं दर्शन से जुड़ी गुत्थियों को सुलझाती हैं, बल्कि सम्प्रदायों, रूढ़िवादिता, साहित्य एवम् इतिहास के विनियोगों और प्रक्षेपों से भ्रमित, आज के मानव को जीवन के सभी क्षेत्रों में आचरण योग्य विशुद्ध साकल्य भी उपलब्ध कराती हैं। प्रवचन की भाषा सुमधुर तत्सम हिन्दी रही है। कभी कभी प्रवचनों की भाषा, संस्कृत भी रही है। कुछ प्रवचन तो पूर्णरूप से संस्कृत में ही हैं।

इनके प्रवचनों में तीन और आत्माओं, आदि ब्रह्मा (इनके पूज्यपाद गुरुदेव), इनके शिष्य महर्षि लोमश मुनि और महर्षि महानन्द मुनि की वार्ताएँ भी आयी हैं। महर्षि महानन्द जी के तो इनसे प्रश्नोत्तर प्रायः होते रहे हैं। यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात् होने वाले प्रवचनों में यज्ञमान के लिये आशीर्वचनों और राष्ट्रवाद पर दिव्य टिप्पणियों से पूर्ण इनकी वार्ताएँ तो सर्व अपेक्षित रही हैं।

ब्रह्मचारी जी की बढ़ती लोकप्रियता और प्रवचनों की विषय साम्रगी के द्वारा रूढ़िवाद और पाखण्ड के युक्तियुक्त खण्डन के कारण अनेक बार उन पर शरीरिक हमले हुए। एक बार तो औषधि रूप में उन्हें कच्चा पारा खिला दिया गया, जिसके कारण उनका शरीर फोड़े फोड़े हो गया और हृदय तथा फेफड़ों को गहरी क्षति पहुँची थी!

सामान्य अवस्था में, एक सामान्य से प्रतीत होने वाले ब्रह्मचारी जी ने अपने छोटे से जीवन काल में 5000 के लगभग वेद पारायण यज्ञों का आयोजन करवाया, जिनमें लगभग 35 चतुर्वेद पारायण यज्ञ हैं। आज के वाममार्ग काल में, ग्राम ग्राम, नगर नगर घूम कर इस महामानव ने महर्षि दयानन्द द्वारा पुनर्जागृत वेद एवं यज्ञ प्रचार की ज्योति को हज़ारों हज़ारों परिवारों में देदीप्यमान कर दिया। अनेक श्रद्धालुओं को ‘दैनिक यज्ञ’ में योजित किया और अनेकों के हृदय में पञ्च याग की भूमिका बनाई।

आजीवन ब्रह्मचारी रहकर सात्विक एवं सादा जीवन जीने वाले ब्रह्मचारी जी की सहजता, गम्भीर सरलता और इदन्नमम सार्थकता आदि गुणों ने सभी विचारशीलों को अत्यन्त प्रभावित किया। उनकी विलक्षण स्मरण शक्ति और सबके प्रति अगाध प्रेम ने उन्हें ‘सभी का अपना’ बना दिया था।

यज्ञों के विस्तार की भूमिका बनाते हुए और अपने दिव्य यौगिक प्रवचनों द्वारा ब्रह्म ज्ञान का प्रसारण करते हुए, यह दिव्यात्मा, 15 अक्तूबर 1992 को ब्रह्म मुहूर्त के समय, 50 वर्ष की अवस्था में, ब्रह्म लोक के लिये महाप्रयाण कर गयी। यद्यपि, पूज्यपाद ब्रह्मर्षि कृष्णदत्त जी महाराज, आज हमारे मध्य नहीं हैं, लेकिन उनकी वेदवाणी, यज्ञों की भूमिका और उनकी प्रवचन प्रेरणाएँ, सर्वदा सर्वदा, मानव मात्र का मागदर्शन करती रहेंगी।   वैदिक अनुसन्धान समिति (पंजी)

३ सृष्टि रचना का महत्व

सृष्टि के आरम्भ में जब अन्धकार होता है, तो परमात्मा से एक महत् चलता है और वह महत् चल करके शून्य प्रकृति के परमाणुओं से मिलान करता है तो उस महान् प्रकृति में त्राहिमाम् त्राहिमाम् होने लगता है मानो उस शिव के महत् रूपी लिंग का जब महान शक्ति प्रकृति से मिलान होता है तो प्रकृति के परमाणुओं में कम्पन्नता आ जाती है, क्षोभ उत्पन्न होता है। उसका स्वभाव उमड़ आता है क्योंकि शून्य प्रकृति की क्रिया प्राण है और प्राण का मूल परमपिता परमात्मा का महत् है। सृष्टि रचना का निमित्त कारण परमपिता परमात्मा का उपादान कारण प्रकृति है।

पुष्प 3 तो बेटा! इससे प्रतीत होता है कि परमेश्वर जब शून्य प्रकृति को प्राण रूपी सत्ता प्रदान करता है तो वह महान चिलकने लगती है। उस समय यह ब्रह्माण्ड रच जाता है। कैसा ब्रह्माण्ड? कि एक एक सौर्य मण्डल का अधिपति एक एक सूर्य माना गया है और एक एक सौर्य मण्डल में पचासी लाख के लगभग लोक और मण्डल माने गए हैं। इससे ऊपर का सौर्य मण्डल बृहस्पति का है, इसके ऊपर ध्रुव मण्डल माना जाता है। उन्होंने कहा कि यह जो आकाश गंगा है, इसमें एक अरब दो करोड़ नौ लाख दो सौ बीस मण्डल माने जाते हैं और ऐसी ऐसी आकाश गंगाएं उस प्रभु की सृष्टि में अनन्त मानी गईं हैं। आज मानव की बुद्धि के आंगन में यह वार्ता नहीं आती और अन्त में बुद्धि चकित हो जाती है।

निश्चय यह एक ही आत्मा पहले था। आंख झपकाने वाला और कोई नहीं था। हमारे महान् दार्शनिकों ने यह कहा है कि जैसे माता अपने गर्भस्थल में बालक को धारण रखती है वैसे ही वह माता, परमात्मा प्रलयकाल की अवधि में इन असंख्य जीवों को और कारण प्रकृति को अर्थात् दोनों को अपने गर्भ में धारण रखता है। प्रलय काल की अवधि सृष्टि काल के बराबर होती है। एक चतुर्युगी तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्ष और 71 चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। ऐसे चौदह मन्वन्तरों का सृष्टिकाल व उतना ही प्रलयकाल होता है। प्रलयकाल को ब्रह्म की रात्रि कहते हैं। प्रलयकाल की अवधि समाप्त होने पर परमपिता परमात्मा का स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया (ईक्षण) प्रादुर्भाव होता है। उसने ईक्षण किया कि सृष्टि को रचूं। उसके स्वाभाविक ईक्षण मात्र से अव्यक्त प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है और सृष्टि से सृजन कार्य प्रारम्भ होने लगता है, ब्रह्माण्ड रच जाता है।

समुद्र मन्थन

पुष्प 3 सरोजनी नगर नई दिल्ली 9 मार्च 1962

बेटा! परमपिता परमात्मा ने महत देकर चौदह रत्न इस प्रकृति से निकाले। समुद्र कहते हैं प्रकृति को जिसकी शक्ति का कोई पार नहीं। वे रत्न मानव तथा प्राणियों के लिए महत्वदायक हैं। मुनिवरो! ऐसा कहते हैं कि उन रत्नों में से परमपिता परमात्मा ने श्याम कर्ण घोड़े को निकाला, महान् धेनु को निकाला। वेदों में यह सब ज्ञान मिलता है। बेटा! मानो देखो इसमें जितने तत्व हैं वे सब महान् प्रकृति से आए हैं, जैसे सूर्य है, चन्द्रमा है, अग्नि है, कामधेनु है। ये सब रत्न प्रकृति के मन्थन से प्राप्त हुए हैं।

मुनिवरो! ये सब क्या हैं?

'धेनु' माता को भी कहते हैं, 'धेनु' गाय को भी कहते हैं। बेटा! हम 'धेनु' पृथ्वी को भी कहते हैं। उस परमपिता परमात्मा ने इसको मन्थन करके स्थिर किया। श्याम कर्ण 'मन' को भी कहते हैं, श्याम कर्ण अग्नि को भी कहते हैं। यहाँ कई रूप रेखा मानी गई हैं। श्याम कर्ण, बेटा! सूर्य को भी कहते हैं।

मुनिवरो! देखो, परमात्मा ने इन सब रत्नों को, प्रकृति को तपाकर असंख्य प्राणियों एवं मानव के जीवन संचालन व कल्याण के लिए निकाला। मानो, माता धेनु को उत्पन्न किया जिससे संसार की उत्पत्ति होती है, पालन पोषण होता है। पृथ्वी माता भी धेनु है। उस महान् ब्रह्माण्ड के असंख्य लोक लोकान्तर वसु हैं, प्राणियों व मानव के निवास स्थान हैं, इसीलिए बेटा! पृथ्वी को हम वसुन्धरा कहते हैं। यह पृथ्वी हमारी जननी कहलाती है। जैसे माता के गर्भ स्थल से मानव पृथक् होता है और पृथक् हो करके वह मानव पृथ्वी माता की आभा को प्राप्त होता है, वह जननी है, क्योंकि वह पृथ्वी अपने में उसे धारण कर लेती है। नाना प्रकार के पदार्थों को देती है। उन पदार्थों को पान करके, बेटा! वह बालक माता के गर्भ से पृथक हो करके इस पृथ्वी माता वसुन्धरा के गर्भ में प्रवेश करता है और नाना प्रकार के

खाद्य और खनिजों को प्राप्त करके अपने जीवन की रक्षा करता रहता है। वह माता वसुन्धरा कहलाती है। कहीं, बेटा! स्वर्ण की धातु का निर्माण हो रहा है, कहीं रत्न जैसी धातुओं का निर्माण हो रहा है। मेरे प्यारे! पृथ्वी के गर्भ में नाना प्रकार के खाद्यों का प्रायः निर्माण हो रहा है। उसको समस्त प्राणी व मानव पान करके जीवन की रक्षा करता रहता है।

जैसे वैद्यराज अपनी स्थली को त्याग करके माता पृथ्वी के आंगन में प्रवेश करता है। नाना प्रकार की वनस्पतियों व औषधियों के गुणों को अंकित करता रहता है। उनके पान करने से मानव के जीवन में प्राण शक्ति आती है, अनेक प्रकार के रोगों से निवृत्ति होती है।

मैंने बहुत पुरातन काल में तुम्हें निर्णय देते हुए कहा था, बेटा! श्याम कर्ण सूर्य को कहते है। उस सूर्य की नाना प्रकार की जो किरणें हैं, कोई किरण मानो विष को उत्पन्न कर रही है, कोई किरण अमृत को बहा रही है। कोई किरण, मुनिवरो! तीखी बन करके मानव को ऊष्ण बना रही है। नाना प्रकार की किरणें भिन्न भिन्न रूपों को धारण करके इस संसार को गतिवान बना रही हैं। वे ही किरणें देखो एक योगी जो योगाभ्यास कर रहा है उसके द्वारा आती हैं। वे ही किरणें सर्प के द्वार पर जा रही हैं। वे ही किरणें साधारण प्राणी के द्वारा जा रही हैं, परन्तु उसे उनका कोई भान नहीं हो रहा है। वे ही किरणें पृथ्वी के गर्भ में जा करके स्वर्ण को तपाती हैं। वे किरणें जल को शोधन कर रही हैं। वे ही किरणें अन्न व वनस्पतियों के लिए उपयोगी है। वे ही किरण मानव के रोगों को समाप्त कर देती हैं। सूर्य विज्ञान के कलाकार आचार्य हनुमान थे। सूर्य विज्ञान उनको कंठस्थ था। चन्द्र विज्ञान का पूर्ण ज्ञान जामवन्त के द्वारा था।

प्रातः सूर्य उगता है। उस समय शीत से प्राणियों को जीवन दान देता है। उसके उदय होते ही अन्धकार का अभाव हो जाता है। समस्त प्राणी नित्य सवेरे सूर्य के प्रकाश में अपने अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। सूर्य प्राणीमात्र के लिए महत्वदायक है। सूर्य देवता है, सब कुछ देते हुए अपने लिए अकर्ता ही है। परमपिता परमात्मा ने प्रथम निज स्वरूप को सूर्य को प्रदान कर दिया है।

मुनिवरो! देखो श्याम कर्ण अग्नि को भी कहते हैं। जो काष्ठ में अग्नि है, मेरी प्यारी माता भोजन तपा रही है। मानव तृप्त हो रहा है। वही अग्नि मानव को ऊंचा बनाती है। उसी अग्नि से हम नाना प्रकार के वाहनों का निर्माण कर सकते हैं। वह ही अग्नि वाणी के स्वरूप में कार्य करती है। अग्नि में विद्यमान होकर यजमान भिन्न भिन्न प्रकार की आहुति दे रहा है। बेटा! श्याम कर्ण 'मन' को भी कहते हैं। मानव कर्म देह में 'मन' ही सबसे प्रधान उपकरण माना गया है। कार्य प्राणी का संचालक है, जिसके बिना कोई क्रिया प्रारम्भ ही नहीं होती। बाह्य इन्द्रियों में विषयों को ग्रहण करना व संचित विषयों को भीतर से लेना, ये सब कार्य मन के द्वारा ही प्रारम्भ होते है। वह ही 'मन' संकल्प विकल्प की आधारशिला है।

बेटा! उस परमात्मा ने चौदह रत्नों को निकाला, जिसका विवेचन तो अन्य किसी काल में ही उच्चारण करेंगे।

पुष्प 1 वह मन्थन किसके लिए व क्यों किया?

बेटा! देखो जैसे माता का बालक है, गौ दुग्ध देती है और वह माता उस दुग्ध की क्रिया बनाती है, क्रिया बना करके उससे घृत निकाल लेती है। वह जो उसका परिवार उसके द्वारा होता है, वह उस घृत को अपने बालक को अर्पण कर देती है। ऐसे ही बेटा! परमात्मा उस महान! प्रकृति को तपाकर मन्थन करके अपने बालक 'आत्मा' के लिए करता है।

मुनिवरों! जब माता के गर्भ में वह जीवात्मा मन के साथ निवास करता है, उस समय वह न व्याकुल होता है और न श्वांस ही लेता है, न वह अपने मुखारविन्द से परमात्मा की स्तुति ही कर पाता है, तो भी वह आत्मा मन सहित उस प्रभु से सम्बन्ध करता है और आराधना करता है कि मैं इस अन्धकार से पृथक होना चाहता हूँ। उस समय उसे कर्म करने का, कर्म करके ज्ञान उपार्जन करने का, प्रभु मिलन का अवसर प्राप्त नहीं होता। तो वह उस प्रभु से याचना करता है प्रभो! मुझसे कर्म करने का, अपने विकास का अवसर नहीं मिल पा रहा है। मुझे प्रकाश दो, वह तेज दो, जिससे मैं कर्म कर सकूं।

गर्भोपनिषद्

गर्भकाल का जब नौवां मास लगता है। शरीर के सब अवयवों का निर्माण हो जाता है। मन व बुद्धि भी सुगठित हो जाते हैं। उस समय वह अहंकार विशिष्ट जीव अनुभव करता है :

अरे, मैं अनेक बार जन्मा, अनेक माताओं के स्तन से दूध पिया। परिवार के लिए अच्छे बुरे कर्म किए। वे सब परिवार वाले साथ छोड़कर चले गए। अरे, अब मैं अकेला ही वैतरणी नदी में रक्त मांस से लिप्टा हुआ, डूबा हुआ हूँ, निकलने का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। उस समय वह प्रभु से अनुरोध अवश्य करता है कि हे प्रभु! मुझे एक बार पुनः से अवसर प्रदान करो, जिससे मैं आपकी शरण में आ सकूं। आप मेरे सखा हो। आप ही सुख व आनन्द के भण्डार हो। अब तक मैं भूल में था। अब मैं अवसर मिलने पर आपकी शरण में

आऊंगा।

तो मुनिवरो! माता के गर्भ स्थल में रहती हुई आत्मा जैसे अन्धकार से पृथक होकर कर्म करने के लिए अपने पिता परमात्मा से प्रार्थना करती है, उसी प्रकार प्रलयकाल के अन्धकार में उस शून्य प्रकृति में वे सब आत्माएं उस परमपिता परमात्मा से याचना करती हैं कि हमारे लिए सृष्टि का आरम्भ करो। हम संसार में पुनः आना चाहते हैं। पूर्व की भांति इसे उत्पन्न करो और जो शेष कर्म रह गए हैं, हम उनको पूर्ण करेंगे। इसीलिए परमात्मा इस प्रकृति को तपाकर संसार की रचना करते हैं। तो मुनिवरो! आत्मा को उस परमेश्वर से अनुरोध अवश्य करना पड़ता है।

मुनिवरो! वह आत्मा (जीव) संसार में जन्म लेकर संसार में लिप्त होकर अपने वचन को भुला देता है और अपने महत्व को अपने अस्तित्व को नष्ट कर देता है जैसे एक सिंह का बच्चा भेड़ों के झुण्ड में फंसकर मैं मैं ही कर सकता है। और जब कभी उसे अपने सजातीय 'सिंह' का योग हो जाता है और वह अपने प्रतिबिम्ब को देखकर गर्जना करता है तो वह अपने स्वरूप को पहचान कर स्थिर हो जाता है।

प्रलय व महाप्रलय

देखो जन्म व मृत्यु ही महान् माने गए हैं। ऐसे अवसर पर वह (जीव) परमेश्वर का स्मरण करने लगता है। मृत्यु समय भी जब काल के थपेड़े से जीवन का स्रोत बन्द होने लगता है, उस अवसर पर भी अपनी भूलों का व प्रभु का स्मरण प्रायः किया जाता है, मानव अपने जीवन में एक ऐसे बहाव में बहता चला जा रहा है जिसका कोई विराम नहीं। मृत्यु ने उसे सचेत किया। क्योंकि संसार में यदि मृत्यु न होती तो उसे कदापि कुछ सोचने का अवसर ही नहीं मिल सकता था। मैं कौन था। मैं कौन हूँ, जगत् क्या है? चेतन, अचेतन का रहस्य जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाया करती है।

महा प्रलयकाल सृष्टि के पूर्णतः बिगाड़ के अवसर पर सूत्रात्मा के आघात से उपद्रव होने लगते हैं। आकाश में कोई प्रकाशधारा सीधी, त्रिर्यागाकार, कभी रक्त वर्ण, नील, पीत व हरित वर्ण वाली कम्पायमान दृष्टिगोचर होती है। मानव भू लोकों में ऐसा देखकर भय से भयभीत होते हैं कि अब क्या होगा? भू गर्भ अग्नि के विस्फोट से लोक लोकान्तर कुछ आगे को बढ़ते, कुछ पीछे को हटने लगते हैं। तृृतीय समस्त ब्रह्माण्ड के अनन्त भूगोल कुलाल चक्र के समान कम्पायमान होकर विनाश को प्राप्त होते हैं। जब परमात्मा अपनी चेतना (महत्) को समेट लेते हैं तो समस्त ब्रह्माण्ड का विनाश?महा प्रलयकाल की अवस्था होती है। सूर्य निस्तेज, वायु का वेग इतना प्रबल होता है कि आकाश में वृक्ष उखड़कर ध्वन्स विध्वन्स होते हैं। समुद्र का जल मीलों ऊपर उठ जाता है। उस कठिन अवसर के समय नास्तिक भाव समाप्त हो जाते हैं। वैर भाव को छोड़कर प्रीति पूर्वक उस प्रभु का स्मरण आने लगता है क्योंकि किसी के वश की बात नहीं। उस समय न क्षुधा ही कष्ट पहुँचाती है, न तृष्णा ही रहती है। उस समय जीवन से उदासीन होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। इस अवसर में उस परम सत्ता परमपिता परमात्मा की प्रतिभा का विश्वास होता है, उसी के स्मरण में मानव अपने को उसी विधाता को सौपंकर उसी की गोद में सो जाता है। (सर्वदानन्द सरस्वती)

जन्म व मृत्यु के कठिन अवसर पर उस प्रभु का स्मरण अवश्य होता है, अपनी भूलों का भी स्मरण होने लगता है तथा आत्म अनात्म के जानने की जिज्ञासा भी ऐसे समय में जागृत होने लगती है। अतः वे अवसर दुःखप्रद होते हुए भी शिक्षाप्रद हैं। हम जानने को तत्पर हो जाते हैं कि जन्म मृत्यु क्या वस्तु है? क्योंकि आत्मा तो अजर, अमर, और अभय है।

४ आत्मतत्व विवेचना

आत्मवेत्ता याज्ञवल्क्य

ऋषि मिनयो ने बहुत ही अनुसन्धान करने के पश्चात् यह निश्चय किया है कि संसार में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं। तीनों पदार्थों के स्वरूपों को भिन्न भिन्न जानना, स्वीकार करना और उन्हें विचारना ही हमारी महत्ता मानी गई है क्योंकि जड़ चेतन ही दो पदार्थ माने जाते है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा दोनों चेतन माने जाते हैं। परन्तु दोनों की विशेषता भिन्न भिन्न है। एक शरीर को जो चेतनित कर रहा है, उसे आत्मा और जो सारे ब्रह्माण्ड और उसमें सब प्राणियों को जो चेतनित कर रहा है उसे परमात्मा की संज्ञा देते हैं।

बेटा! यह प्रकृति ब्रह्म में ठहरी हुई दृष्टिपात आती है। वह जो परब्रह्म परमात्मा है वह आत्मा में ठहरा हुआ दृष्टिपात आता है। यह आत्मा और प्रकृति दोनों ब्रह्म में ठहरी हुई दृष्टिपात आती हैं। एक दूसरे की सहकारिता में ही बेटा! यह जगत अपने अपने आंगन में,

अपने अपने आसन में ही नृत्य कर रहा है। जिस प्रकार बेटा! अन्तरिक्ष में लोक लोकान्तर मानो अपने अपने आसन में नृत्य कर रहे हैं, ध्रुव मण्डल अपने आंगन में नृत्य कर रहा है, सूर्य अपने आंगन में नृत्य कर रहा है, पृथ्वी अपने आंगन में नृत्य कर रही है। अपने अपने आंगन में नृत्य करने मात्र से यह जगत् मुनिवरो! देखो अपने अपने आंगन में ठहरा हुआ है। एक चेतना में ठहरा हुआ यह संसार दृष्टिपात आता रहता है। हम परमपिता परमात्मा को जानने का प्रयास करें क्योंकि परमात्मा को जाने बिना और उसको कण कण में दृष्टिपात किये बिना बेटा! हम अपनी आत्मा को चेतनावत् कर ही नहीं सकते। उस अन्तरात्मा को जानना हमारे लिए बहुत अनिवार्य है। बेटा! उसको जानने से ही हमारा कल्याण होगा। हम आत्मा के सम्बन्ध में विचार विनिमय करने वाले बनें। हम आत्मा को जानना चाहते हैं। प्रत्येक मेरी माता के हृदय में जिज्ञासा रहती है कि मैं आत्मा को जानूं। मानव के हृदय में भी यह वेदना रहती है कि आत्मा क्या है? उस अन्तरात्मा की विशेषताओं को जानने से मुनिवरो! देखो, उसका दिग्दर्शन करके हम इस संसार से पार होते हुए अपने जीवन को महान बनाते चले जायें।

मुनिवरो! मुझे स्मरण है कि एक समय महाराजा जनक ने आत्म ज्ञान के लिए एक सभा का आयोजन किया। उसमें कुठ और पांचाल देश के विद्वान ब्राह्मण आये हुए थे। उस सभा में याज्ञवल्क्य मुनि महाराज से अनेकों प्रश्न किए गए और उन्होंने अनेक उत्तर भी दिए। चक्र गोत्रीय उषस्त पूछने लगे कि हे याज्ञवल्क्य! जो सर्वान्तर शरीर एवं करणों के भीतर जो आत्मा वर्तमान है, वह क्या पदार्थ है?

याज्ञवल्क्य बोले! वह जो सबके भीतर साक्षात् हो रही है। उन्होंने कहा वह कौन सा आत्मा है जो सबके भीतर वर्तमान है सो याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि वही जो प्राण से श्वांस, अपान से प्रश्वांस, व्यान से प्रसारण, उदान से उत्क्रमण कार्य शरीर में दिखाई दे रहे हैं, जिसके वर्तमान रहने तक ही शारीरिक व्यापार हो रहे हैं और न रहने पर कोई चेष्टा नहीं होती और समस्त कार्य समाप्त हो जाते हैं।

उषस्त चाक्रायण ने पुनः कहा कि जैसे कोई गौ और अश्व के पूछने पर उसको प्रत्यक्ष तो दृष्टिपात न करावे, उसका ज्ञान न करावे, उसके गुणों का ही दर्शन करा दे और टाल देवे। मुझे तो प्रभो! उसकी साक्षात् जानकारी करावें। याज्ञवल्क्य बोले वह तो स्वयं दृष्टा है, उसको कदापि देखा नहीं जा सकता, वह तो स्वयं श्रोता है, उसको सुना नहीं जा सकता, वह तो स्वयं मनन कर्त्ता है, उसे कैसे मनन कर सकता है वह तो स्वयं विज्ञाता है, उसे कैसे जाना जा सकता है। वह सर्वान्तर आत्मा तो स्वयं दृष्टा, श्रोता, मनन कर्त्ता व विज्ञाता है, इससे भिन्न कोई अन्य उपदेश नहीं किया जा सकता है। यह सुनकर उषस्त चाक्रायण मौन हो गए। आगे कुर्षा तक के पुत्रक होल ने और भी कुछ उस सर्वान्तर आत्मा के सम्बन्ध में जानने की इच्छा से ही यह प्रश्न पुनः पूछा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर में उसे कहा कि वह भीतर शरीर में सबके रहने वाली आत्मा भूख, प्यास, मोह, जरा, मृत्यु द्वन्द्वों से सर्वथा भिन्न है, असंग है और स्वाभाविक स्वरूप में अजर, अमर, अभय व पाप रहित हैं। उसे ऐसा जानकर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा से मुंह फेर कर उठ जाते हैं।

५ आत्मतत्त्व दर्शन

याज्ञवल्क्य मैत्रीय संवाद

याज्ञवल्क्य मुनि महाराज जब संन्यास आश्रम में जाने लगे। उस समय उन्होंने मैत्रीय से पूछा कि मैं गृहस्थाश्रम से ऊपर उठना चाहता हूँ, इस कात्यायनी से तुम्हारा वित्त सम्बन्धी बटवारा करा दूं। मैत्रीय एक ब्रह्मवादिनी पत्नी थी और उसने याज्ञवल्क्य को केवल आत्म चिन्तन के विचार से ही वर लिया था। ऐसा प्रतिज्ञाबद्ध उसका जीवन याज्ञवल्क्य के साथ रहता था। वह मैत्रीय बोली कि हे भगवन्! यदि यह सारी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण होकर मेरी हो जाये तो क्या फिर मैं उससे सन्तुष्ट हो जाऊंगी। ये कामनायें जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि की ज्वालायें और भी तीव्र हो जाती हैं, उसी प्रकार मानव की समस्त कामनायें तो शान्त नहीं होतीं वरन् और भी प्रज्ज्वलित हो जाती हैं। उन कामनाओं के रहते हुए प्रभो! बन्धन का चक्र तो निरन्तर बना ही रहता है। उससे क्या मैं अमर हो जाऊंगी। और जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी। मुझे तो जो अमर होने का रहस्य है अथवा जो अमृत पद है, उसे ही मैं चाहती हूँ। याज्ञवल्क्य बोले कि तू तो अति प्रिय वचन बोल रही है जिस बात को मैं पसन्द करता हूँ, उसी को तू भी बोल रही है। यदि ऐसा है तो अब मैं तुझे विशेष रूप से उस अजर, अमर, अभय आत्मा का, उस चेतन तत्त्व का अचेतन तत्त्व से पृथक् पृथक् स्वरूप बताऊंगा। आत्म तत्त्व क्या है और अनात्म क्या है। अरे मैत्रीय पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता। अपनी निज कामना के लिए पति प्रिय होता है। अरे मैत्रीय, पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती वह अपनी ही कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। अरे, पुत्रों की कामना कि लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, अपनी ही कामना के लिए पुत्र प्रिय होते हैं। अरे, राष्ट्र की कामना के लिए राष्ट्र प्रिय नहीं होता अपनी निज की

कामना के लिए राष्ट्र प्रिय होता है। अरे, मैत्रीय सांसारिक सब पदार्थ अपने ही लिए होते है, मनुष्य उन अनात्म वस्तुओं को आत्मीय बनाता है, अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। आसक्त रहता है। यह मेरा पुत्र है, पत्नी है, सम्पत्ति है। अरे, जिसकी कामना के लिए यह सब कुछ प्रिय होता है, वह अनात्म में अनात्म चेष्टा ही तो है, उस चेष्टा में पड़े रहने से शान्ति किसी काल में प्राप्त नहीं हो सकती। उन अनात्म पदार्थों में अनात्म चेष्टा को छोड़कर आत्मा की ओर देख। उस आत्मा का आत्मा तो परमपिता परमात्मा ही है, वह ही आत्मीय है, उसी से सम्बन्ध जोड़ने से, उसी से प्यार करने से सुख व शान्ति मिल सकती है। वह ही दृष्टव्य है, श्रोतव्य है, मनन करने योग्य है, ज्ञातव्य है। उस परम तत्त्व के दर्शन से सब कुछ विदित हो जाता है, कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती। जिन बाह्य पदार्थों को अपनाया जाता है, वे सब एक एक करके साथ छोड़ देते हैं, क्योंकि उनका स्वामी तो परमपिता परमात्मा ही है।

महर्षि बोले कि हे मैत्रीय, देखो जैसे वीणा का शब्द अति प्रिय लगता है। उसको सदैव सुनने के लिए, स्वाधीन करने के लिए यह ही उपाय है कि उस वीणा को अपने अधिकार में कर लो और उसके बजाने वाले को पकड़ लो। वीणा का शब्द निश्चय पकड़ा जाता है, स्वाधीन हो जाता है।

जिस समय द्वैत होता है। आत्मानात्म सम्बन्ध आत्मा से अतिरिक्त दूसरा अनात्म भी लक्ष्य में होता है जो अनात्म जड़ को सूंघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है, मननीय का मनन करता है, विज्ञेय का ज्ञान करता है। जब आत्मानात्म सम्बन्ध न रहे तो किससे किसको सूंघे, किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको सोचे, किसको जाने। अतः द्वैत सम्बन्ध भी हे मैत्रीय! अनिवार्य हैं। आत्म ज्ञान प्रतीति प्राप्त करने का ही तो साधन है। उस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्ति के लिए मानव के लिए एक अमूल्य देन हैं। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

संकल्प विकल्प

मेरे प्यारे ऋषिवर! यह जो सर्वस्व जगत् है, वह एक प्रकार का कल्प वृक्ष हैं यहाँ मानव आता है उज्ज्वल कल्पना करने के लिए, ऊंचा संकल्पवादी बनने के लिए आता है। यहाँ जब प्रभु के संकल्प क्षेत्र में आ पहुँचे हैं तो कोई न कोई कल्पना तो करनी ही है, इसलिए महान् संकल्प ही क्यों न धारण करें?

संकल्प और विकल्प हमारे द्वारा दो पदार्थ हैं। संकल्प वह पदार्थ है, जिसको धारण करके बेटा, इस संसार में क्या सूर्य लोकों में, ध्रुव मण्डल में और बृहस्पति लोक मे रमण किया जाता है। जब मानव की संकल्प शक्ति ऊँची हो जाती है तो उससे मानव के रोग शान्त हो जाते हैं। यह संकल्प ही मानव के द्वारा एक उत्तम औषधि है, इसकों हमारे यहाँ सोम कहते हैं, जिससे हमें शान्ति मिलती है। सोम नाम परमात्मा का है, रस नाम ज्ञान का है। तो जब हम सोम रस का पान करते हैं, तो हम परमपिता परमात्मा से मिलान करने वाली विद्या का ही पान करते हैं। हमारा स्वरूप वास्तविक होना चाहिए। इसके द्वारा हम उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ परमात्मा अपने पुत्रों के लिए ज्ञान और विवेक की स्थापना कर रहा है, जहाँ यह आत्मा अपने प्रभु की गोद मे पहुँच जाता है। संकल्प हमें परमात्मा से मिलान कराता है। वह संकल्प जो हमें ऊंचे शिखर पर पहुँचा देता है, उसी का नाम संकल्प है। उस आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप सत्य संकल्पमय घोषित किया है। वह अपने सखा की गोद में जाने के लिए प्रेरित रहता है, स्मरण करता है। उसी के स्वभाव के अनुरूप ही मनोविज्ञान का निर्माण किया गया है। सत्य संकल्प में दृढ़ रहना ही आत्मा का भोजन माना गया है।

संकल्पवादी महात्मा प्रहलाद

मुनिवरों! आज मुझे महात्मा प्रहलाद का अनुपम जीवन स्मरण हो गया है। प्रहलाद के जो पिता थे, उनका नाम हिरण्यकश्यप कहा जाता था। उनको यह अभिमान छा गया था कि एक परमाणु के दूसरे परमाणु से मिलन से प्रकृति गतिशील है और परमात्मा कोई वस्तु नहीं है।ै उन्होंने अपने राष्ट्र में यह घोषणा की हुई थी कि परमात्मा तो एक राजा को ही कहते हैं। मैं ही परमात्मा के स्थान पर पूजनीय हूँ।

उनके पुत्र प्रहलाद बाल्यकाल में अपने शिक्षालय को जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुम्भा में से जिसमें से एक रज पात्र में बिल्ली के बच्चे अग्नि में प्रविष्ट हो गए थे वह तपने के पश्चात् ज्यों के त्यों सुरक्षित रहे। उस बालक को बड़ा आश्चर्य हुआ। बेटा! न प्रति उस प्रहलाद को कौन से जन्म का संस्कार उदय हो गया। उसने निश्चय किया कि निस्सन्देह कोई और चेतन्य शक्ति है, जिसके कारण इनके प्राणों की रक्षा हुई है। उसे निष्ठा हो गई कि संसार में प्रभु तो अवश्य है। जो अग्नि के मुखारविन्द से जीवन देता है, वह तो सारे विश्व का स्वामी अवश्य ही है।

जब राजा को यह प्रतीत हुआ कि तेरा पुत्र तो ईश्वर ईश्वर पुकारता रहता है। उस समय महाराजा हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र को कारागार में ओत प्रोत करा दिया और नाना सर्पों की माला उसके गले में डाल दी। वह बालक इतना संकल्पवादी व निष्ठावान हो गया था कि सर्प उसके निकट आये और उसे निगल न सके। आत्म विश्वास व सत्य संकल्प मे वह चमत्कार है कि हिंसक प्राणी भी उसे प्यार करने लगते हैं। जब राजा को यह विदित हुआ कि तेरा पुत्र तो सुरक्षित है तो मुनिवरो! एक समय आया कि प्रहलाद को पर्वतों से नीचे गिराया गया परन्तु उसकी मृत्यु न हो सकी । उस हिरण्यकश्यप की भगिनी होलिका को भी यह गर्व हो गया था कि परमात्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। उस राजा ने अपनी भगिनी से कहा कि मेरा पुत्र तो राष्ट्र में मेरा शत्रु बन गया है और उसने ईश्वर मानने वालों का एक समाज बना लिया है जो अपने लिए नरसिंह नाम से जाना जाता है। मैं चाहता हूँ कि मेरा पुत्र मृत्यु को प्राप्त हो जाए।

मुनिवरों! होलिका जो एक ऊँची वैज्ञानिक थी उन औषधियों का लेपन अपने शरीर में करने लगी जिसके मर्दन करने से अग्नि उसके शरीर में प्रविष्ट नहीं होती थी। उस होलिका ने अपने विधाता के पुत्र को अपने आंगन में धारण कर लिया। उस समय जब होलिका प्रहलाद को लेकर अग्नि में प्रविष्ट हो गई तो वह स्वयं नष्ट होने लगी। उस औषधि की यह विशेषता थी कि उसका लेपन करने वाला यहाँ द्वितीय प्राणी को लेकर अग्नि में प्रविष्ट हो जाए तो उस आयुर्वेद औषधि की प्रतिभा दूसरे शरीर में रमण कर जाती थी। प्रहलाद अपने जीवन के संकल्प को प्राप्त हो गया। उसी समय प्रजा में नरसिंह नामक समाज में एक महान क्रान्ति उत्पन्न होने लगी और उस समाज ने राजा को तुरन्त नष्ट कर दिया।

संकल्पवादी शुकदेव

देखो मुनिवरो! महर्षि व्यास के पुत्र शुकदेव में माता के द्वारा ऐसी ही एक प्रतिभा विद्यमान थी। एक समय पुत्र ने पिता से पूछा कि भगवन्! मुझे गुरु किस काल में मिलेगा। उन्होंने कहा कि तुम राजा जनक के द्वार चले जाओ! वह तुम्हारे गुरु बनेंगे। इस वाक्य को पान करके वह वहाँ से जनक नगरी जा पहुँचे और द्वारपाल से कहा कि राजा से कहो कि एक सेवक आया है। द्वारपाल ने राजा को संदेश कह सुनाया। राजा जनक ने योग बल से देखा कि अरे! यह तो शुकदेव आया हुआ है। उन्होंने कहा कि उसे वहीं रहने दो।

कहते हैं कि उसे उसी प्रथम द्वार पर एक दिवस और एक रात्रि हो गई। वह वहीं स्थिर बने रहे। द्वितीय काल द्वारपाल ने राजा जनक से कहा कि महाराज वह तो वहीं स्थिर है। उन्होंने कहा कि अच्छा आने दो परन्तु द्वितीय द्वार के द्वारपाल से कहा कि उसे यहीं रहने दो। द्वितीय द्वार पर एक दिवस और एक रात्रि इसी प्रकार स्थिर बने रहे। तृतीय समय हुआ तो तृतीय द्वारपाल से कहा कि तुम इसे वहीं स्थिर कर लेना। वहां भी एक दिवस और एक रात्रि स्थिर बने रहे। अन्त में राजा के निकट जा विराजे। और राजा के चरणों में ओत प्रोत होकर कहा कि भगवन्! मैं तो ज्ञान के लिए आप के द्वार पर आया हूँ।

मुनिवरो! मान अपमान नहीं था, इतने परमहंस कि जिसका कोई प्रमाण नहीं। अब राजा ने सोचा कि एक तो इसकी परीक्षा हो चुकी परन्तु एक परीक्षा रह रही है। उन्होंने उसे एकान्त में स्थिर कर दिया और नाना अप्सराओं को उसके मध्य में स्थिर कर दिया गया। उस समय नाना अप्सरायें नग्न होकर उस ऋषि बालक के द्वार जा पहुँची और उसे नग्न कर दिया। वह ब्रह्मचारी था, वैराग्यवान था, उदार था परमारत्मा में निष्ठावान लालायित था। उस प्रभु के आंगन में मग्न था। वह उसी प्रकार रहा और रात्रि समाप्त हो गई। राजा जनक ने अप्सराओं से पूछा तो उन्होंने कहा महाराज! आपने हमें कहाँ स्थिर कर दिया, वह तो वीर्य व्रत वाला बड़ा ही उदार है। राजा बड़े प्रसन्न हुए और शुकदेव से कहा कि अब तुम ज्ञान लेने योग्य हुए हो। बोलो उस रात्रि तुमने क्या देखा? उन्होंने कहा प्रभु! मैं कुछ भी नहीं देख पा रहा था, केवल यह ही देख रहा था कि आज तेरे समक्ष तुझे नष्ट करने वाली, तेरे तेज को नष्ट करने वाली मृत्यु तेरे निकट आ रही है। मैंने इन नेत्रों से और कुछ नहीं पान किया। आज मैं आपकी कृपा से मृत्यु विजयी बन गया हूँ।

सत्य संकल्पवादी माता कौशल्या

बेटा, मुझे त्रेताकाल की वार्त्ता स्मरण हो रही है। त्रेता के काल की चर्चा जब मुझे स्मरण आती रहती है तो मेरा हृदय गद्गद् होने लगता है। माता कौशल्या जी का संस्कार राजा दशरथ के द्वारा हुआ। संस्कार होने के पश्चात् गृह में प्रविष्ट हो गई। माता कौशल्या का यह नियम था कि वह स्वयं कला कौशल के द्वारा जो अन्न आता उसी को ग्रहण किया करतीं। उन्होंने संकल्प किया था कि मैं राष्ट्र का कोई अन्न ग्रहण नहीं करूंगी क्योंकि मुझे अपने उदर से एक ऐसे बालक को जन्म देना है जो कर्त्तव्य और मर्यादा में उत्तम हो। एक ऊंचे बालक को जन्म मैं उसी काल में दे सकती हूँ, जब मेरे द्वारा सात्विक आहार होगा, क्योंकि अन्न से ही मन की प्रतिभा उत्पन्न होती है।

जब राजा दशरथ को यह ज्ञान हुआ कि राष्ट्र का कोई अन्न ग्रहण नहीं करतीं तो वह एक समय वशिष्ठ मुनि व माता अरुन्धति को

साथ लेकर राष्ट्र गृह में प्रविष्ट हो गए। माता कौशल्या ने उनके चरणों को स्पर्श किया और पूछा कि आज मेरे गृह में आपके आगमन का क्या कारण है? उन्होंने कहा कि देवी, हमने श्रवण किया है कि तुम राष्ट्र का कोई अन्न ग्रहण नहीं करती हो। उन्होंने कहा कि हां भगवन्! मैं राष्ट्र का कोई अन्न ग्रहण नहीं करती हूँ, क्योंकि मैंने अपने गुरुदेव के द्वारा एक संकल्प किया है कि मैं अपने उदर से एक ऐसे महान् बालक को जन्म देना चाहती हूँ और यह तब ही सम्भव होगा जब मेरे द्वारा सात्विक आहार होगा। उन्होंने कहा कि यदि मैं राष्ट्र का अन्न ग्रहण करने लगूंगी तो मेरे गर्भ से एक राष्ट्रीय बालक का ही जन्म होगा, महान् बालक का जन्म नहीं हो सकता क्योंकि राष्ट्र का जो अन्न होता है वह रजोगुण व तमोगुण से सना होता है। इसीलिए मैं उस अन्न का सेवन करना नहीं चाहती हूँ। हे गुरुदेव! राष्ट्र का निर्माण ही रजोगुण से ही होता है। क्योंकि राजा उस समय बनता है जब वह राष्ट्रीय वस्त्रों को धारण करता है और उसके राष्ट्रीय विचार होते हैं, परन्तु जो वास्तविक विचार हैं जो वास्तविक न्याय है, वह तो प्रभु ही करते हैं। तुम्हारे राष्ट्र के कोष में जो द्रव्य है वह भी रजोगुण से सना हुआ होता है और इसीलिए मैं उसे ग्रहण नहीं करना चाहती। हे भगवन्! उस प्रभु की महिमा ही उसके सत्य संकल्प में कटिबद्ध रहती है। मैं उस सत्य संकल्प की ही पूजा करती हूँ। यह सुनकर वे तीनों मौन हो गए।

तो मुनिवरो! देखो वही माता कौशल्या जी के उदर से भगवान् राम का जन्म हुआ। भगवान् राम का जीवन कलाओं में पूर्ण था कैसा महान् था कि उनके लिए राष्ट्र का ऐश्वर्य और पर्वतों की जो शैय्या थी वह दोनों एक समान थीं। एक समय वन यात्रा में निषाद ने राम से कहा था कि महाराज! तुम राज्य त्याग कर वन को क्यों जा रहे हो। उन्होंने कहा कि हे निषाद! मेरा सूक्ष्म सा जीवन है। आज यदि राष्ट्र में रहेंगे तो हमारी राष्ट्रीय बुद्धि होगी और हम नाना पाप करने लगेंगे। उन्होंने कहा कि जो मानव ऊंचा बना है, वह वनों में रहने से ही बना है। आज यदि मैं राजा बन जाता तो राजसी बुद्धि बन जाती और पता नहीं कितने पाप होते और अगले जन्मों में मुझे कौन सी योनि प्राप्त होती। इसलिए हे निषाद! मैं अपने कर्त्तव्य व मर्यादा को बांधकर जहाँ से आया हूँ वहीं चला जाऊंगा। यह सब माता कौशल्या के संस्कारों का ही सब कुछ प्रतिबिम्ब था।

महात्मा ध्रुव

महात्मा ध्रुव का जीवन कितना अग्रणीय था। जब वह पांच वर्ष के थे उस समय अपनी माता से कहा कि मैं पिता के दर्शन करने जा रहा हूँ। जब पिता के दर्शन करने पहुँचे तो वह अपने द्वितीय बालक को अपने आंगन में धारण कर रहे थे। बालक ध्रुव पिता के आंगन में जाने ही वाला था कि उसी समय उनकी सौतेली माता ने कहा कि अरे बालक ध्रुव, यदि तुझे राजा की गोद में पहुंचना था तो तूने मेरे गर्भ से जन्म क्यों नहीं लिया। वह बालक इन वाक्यों को स्मरण करता हुआ व्याकुल होकर अपनी माता के समीप जा पहुँचा और माता से बोला कि मेरी द्वितीय माता ने मुझे कहा है कि यदि तू राजा की गोद में जाने की लालसा रखता था तो मेरे गर्भ में जन्म क्यों नही लिया। माता मैं क्या करूं?

माता उसे सांत्वना देने लगी परन्तु बालक को शान्ति कहाँ आती थी। उसी समय माता ने कहा कि हे बालक! यदि तूने मेरे गर्भ से जन्म लिया है तो मेरे वाक्य को स्मरण कर। पांच वर्ष के बालक को पूर्व संस्कारों की उद्बुद्धता होने लगी और कहा माता आप उच्चारण करो मैं वही करूंगा। उन्होंने कहा कि हे पुत्र! तुम आज प्रभु का चिन्तन करो, उस मार्ग को अपना लो क्योंकि यह तो प्रजा के राजा हैं, तू महान् उस राजा की गोद में चला जा जो संसार का अधिराज है, लोक लोकान्तरों का स्वामी है। तू उस महान देव की शरण में जा जो सारे संसार का पति है।

बालक ने जब यह वाक्य श्रवण किया तो उनके पूर्व किए हुए संस्कार प्रकट होने लगे वह माता के चरणों को छूने लगा और कहा कि हे माता अब मुझे आज्ञा दो, मैं अब सत्य संकल्प में स्थिर हूँ। मैं निश्चय उसी ब्रह्म की गोद में जाने को लालायित हो रहा हूँ। उसी चेतना को जानूंगा, जिस चेतना से यह संसार गति कर रहा है। वह बालक माता के हृदय को प्रफुल्लित करने लगा। माता ने प्रसन्न होकर कहा कि पुत्र जाओ। उस प्रभु की शरण मे चले जाओ। वह पांच वर्ष का बालक भयंकर वनों में जाकर तपस्या में लीन हो गया।

योगीराज कृष्ण

भगवान् कृष्ण का जीवन कैसा अनुपम है, वह सोलह कलाओं में पारंगत उच्च कोटि के कर्म योगी थे। कुरुक्षेत्र की रणस्थली में कौरवों की व पाण्डवों की सेनायें युद्ध के लिए कटिबद्ध हैं। शंख, महाशंख आदि भाठ बाजे बजा रहे हैं। ऐसे अवसर पर अर्जुन अपने दादा भीष्म, आचार्य द्रोण, बन्धु बान्धव, मित्रों को देखकर दुःखी होता हुआ यह कहने लगा कि हे कृष्ण इन सबको देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुंह सूख रहा है और मेरे शरीर में रोमांच हो रहा है। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है, त्वचा जल रही है और खड़े होने की

भी सामर्थ्य नहीं और मेरा मन घूम रहा है, हे कृष्ण! मैं संग्राम में इनसे कैसे लड़ूं, इनको मारकर कोई कल्याण नहीं देखता हूँ। हे जनार्दन! कुल नाश से होने वाली हानि को देखकर हमें इससे बचना चाहिए क्योंकि कुल के नाश होने पर कुल की स्त्रियां बिगड़ जाती हैं। उनके बिगड़ जाने से वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं। शोक से खिन्न चित्त वाला अर्जुन ऐसा कहकर धनुष बाण छोड़कर रथ में पीछे जाकर बैठ जाता है।

उस समय दया से पूर्ण, आंसुओं से भरे व्याकुल घबराए हुए उदासीन अर्जुन को देखकर कृष्ण कहने लगे, हे अर्जुन! तेरे पास इस कठिन समय में अपयश का देने वाला यह मोह कहाँ से आ गया। उसने कहा कि हे मधुसूदन! मैं संग्राम में पूजा के योग्य भीष्म व द्रोण के साथ बाणों से कैसे लड़ूंगा क्योंकि गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा का अन्न भी अच्छा है। क्या मेरा कर्त्तव्य है और क्या मेरा अकर्त्तव्य है क्या करूं और क्या न करूं, इस विषय में विमूढ़ भ्रांत चित्त वाला, मैं तुमसे पूछता हूँ कि जो ठीक हो मुझे निर्णय करें

श्री कृष्ण बोले, तू जो शोक के योग्य नहीं उनका शोक करता है और प्रज्ञा वाला वचन बोलता है। बुद्धिमान गए प्राण वाले और न गए प्राण वालों का शोक नहीं करते क्योंकि ये नाम रूप की संज्ञाएं तो आने जाने वाली हैं, अन्य देह की प्राप्ति होती ही रहती है। उनमें बुद्धिमान लोग मोह नहीं करते, शोक नहीं करते। चाहे उनका उनके सामने भाव हो चाहे अभाव हो जावे उसे सहन करने में उनको कोई मोह, शोक नहीं होता। वह विवेकीजन जानते हैं कि यह सब प्रकृति निर्मित वस्तुएं बहुरुपिये की भांति रूप बदल बदल कर हमारे समक्ष आती ही रहती हैं, घेरे ही रहती हैं। उनके लिए शोक करना ही सत्य संकल्पमय आत्मा के क्षेत्र से गिर जाना है, किन्तु जो आत्मा की परिधि है, उसे यदि हनन कर लिया गया तो वह ही मृत्यु है, शोचनीय है।

हे अर्जुन! यदि तू इस धर्मयुद्ध के अनुकूल संग्राम नहीं करता है तो धर्म की मर्यादा को तोड़कर, अपयश व पाप को प्राप्त होगा क्योंकि धर्म की रक्षा करने से उस प्रभु की महिमा की रक्षा होती है। हे पृथा पुत्र! मेरी तो आत्मा के बारे में निश्चित सम्मत्ति यह ही है कि यह ही आत्मा तो सदा सबके शरीर में अमर है। ऐसा जानकर कौन किसको मारता है, कौन किससे मारा जाता है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नए वस्त्र पहनता है उसी प्रकार ये शरीर संज्ञाएं भी समाप्त नहीं होतीं केवल रूप परिवर्तन हो जाया करता है। तत्त्वदर्शियों ने सत असत के अन्त को देख लिया है। अतः सत्य सांकल्पिक दृष्टा आत्मा में ही संतुष्ट रहने से हमारा कल्याण हो सकता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को सत्यवादी बनने की घोषणा की और अर्जुन का विषाद समाप्त हुआ।

संकल्प और विकल्प हमारे द्वारा दो पदार्थ माने गए हैं। संकल्प वह पदार्थ है, जिसको पान करके यह आत्मा उस प्रभु की गोद में पहुँच जाता है, संकल्प से हमें उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। वह संकल्प जो हमें ऊंचे शिखर पर पहुँचा देता है, उसका नाम संकल्प है।

मुनिवरो! इसके विपरीत द्वितीय का नाम विकल्प है। विकल्प हम उसको कहते हैं, जिसका न कोई आदि होता है और न कोई अन्त होता है। जैसे हम संसार में नाना प्रकार के सम्बन्ध बना लेते हैं, जिनको देखो आज माता पिता इत्यादि नामों से पुकारते हैं जैसे वह मेरी माता है, ये मेरा पिता है, ये मेरा पुत्र है, ये मेरा नाना परिवार है, यह मेरा राष्ट्र है, ये मेरी सम्पत्ति है, भवनशालायें हैं इत्यादि। मुनिवरो! जिनके द्वारा अभिमान होता है, इसका नाम विकल्प है। माता के गर्भस्थल में आने से पूर्व बेटा! यह सम्बन्धीय परिवार नहीं था और मृत्यु के पश्चात् भी यह परिवार न रहेगा। तो जिस श्रृंखला में न आदि होता है और न अन्त होता है उसका नाम विकल्प है।

महर्षि शौनक मुनि ने महर्षि दालभ्य से कहा कि जब यह मानव शरीर नहीं था, इससे पूर्व यह कहाँ था? वे परमाणु कहाँ थे। उन्होंने कहा कि वे परमाणु माता के गर्भ में थे। उन्हीं परमाणुओं से जरायुज में शरीर रचना होती है। उसके साथ एक अभिमानी जीव होता है। उन्होंने कहा कि जब वे परमाणु माता के गर्भ में भी नहीं थे, उससे पूर्व कहाँ थे? उन्होंने कहा कि कृषक की भूमि में लालाहित हो रहे थे। ऋषि ने कहा कि महाराज जब वे परमाणु कृषि की भूमि में भी नहीं थे तो उससे पूर्व कहाँ थे? उन्होंने कहा कि वे परमाणु पृथ्वी के गर्भ में विराजमान थे। यह पृथ्वी के ही परमाणु हैं जिनसे मानव का शरीर बनता है। और भी नाना प्रकार के होते हैं मानो कुछ पृथ्वी के हैं, कुछ जल में थे, कुछ अग्नि में थे, कुछ वायु में थे, कुछ अन्तरिक्ष में भ्रमण कर रहे थे। रजों में रहते हैं। रज जल में होता है जल से ही कुछ अन्न में, कुछ वनस्पतियों में, औषधियों में आते रहते हैं। अन्न व वनस्पतियों को तपाया जाता है। तपा कर रजवीर्य बनता है। रजवीर्य माता के गर्भ में स्थापित होता है और प्राणियों के शरीर की रचना होती है। जब यह जीवात्मा शरीर को त्यागता है तो अग्नि के परमाणु अग्नि में चले जाते हैं, वायु के परमाणु वायु में चले जाते हैं, जल के परमाणु जल में, अन्तरिक्ष के परमाणु अन्तरिक्ष में और पृथ्वी के परमाणु पृथ्वी में रमण कर जाते हैं। इसलिए जो नाम रूप का संसार है, हमारे समक्ष नृत्य कर रहा है, वह प्रकृति के परमाणुओं द्वारा बनता बिगड़ता रहता है, रूपान्तर होता रहता है। वह मानव की एक कल्पना है, कल्पित विचारधारा है। उसका स्वरूपतः कोई भाव

नहीं होता। परन्तु जो आत्मा में परमात्मा व्याप रहा है, वह चेतन्य ही संज्ञा वाला, आनन्द का केन्द्र, सदा एक रस रहने वाला, उसी की प्रतिभा में रमण करने वालों को अनन्त लाभ होता है। विकल्प में बने रहना ही हमारी वास्तविक मृत्यु है और सत्यनिष्ठा में रहना हमारा जीवन है।

मुनिवरो! देखो एक वाक्य हमारे स्मरण आ गया है वह एक अलंकार है एक समय देव ऋषि नारद मृत मण्डल में भ्रमण कर रहे थे। भ्रमण करते हुए एक दुःखित मनुष्य को देखा। वह दुःखित इसलिए था कि उसकी पत्नी महाक्लेशणी थी वह नित्य अपने पति की सेवा करने के स्थान पर दण्ड दिया करती थी। वह एक समय अपनी पत्नी के भय से एक आक्रांत स्थान पर विराजमान होकर प्रभु से याचना कर रहा था कि हे प्रभो! मैं इस समय महान् दुःखी हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो। इतने में देव ऋषि नारद आ पधारे। नारद मुनि बोले, भाई चलो, आज तुम्हें स्वर्ग ले चलें। वह मनुष्य प्रसन्न होकर बोला, "चलिए भगवन्!" वे वहां से चलकर स्वर्ग के द्वार पर जा पहुँचे।

नारद मुनि बोले कि अरे, यह स्वर्ग का द्वार है। उस द्वार के आगे एक कल्पवृक्ष था। नारद मुनि बोले कि तुम इस कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हो जाओ और मैं विष्णु के द्वार जाकर आज्ञा ले आऊं कि तुम्हारे लिए स्वर्ग में स्थान कहाँ है?

अब नारद मुनि तो विष्णु आश्रम में जा पहुँचे और वह मनुष्य उस कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हो गया। मन्द सुगन्ध वायु चल रही थी। उस मनुष्य के हृदय में कल्पना जागी कि इतनी शीतल, मन्द सुगन्ध वायु मन को प्रसन्न करने वाली है परन्तु यहाँ एक सुन्दर आसन होना चाहिए था। बेटा! एक आसन लग गया। वह आसन पर विराजमान हो गया तो पुनः उसे कल्पना जागी कि यहाँ तो विश्राम करने वाला आसन होना चाहिए। बेटा! वह तो कल्पवृक्ष था, वहां तो जो कल्पना की और वह तुरन्त उपस्थित हो जाता था, विश्राम करने वाला आसन भी लग गया। अब उसके मन में कल्पना जागी कि यहाँ तो नाना अप्सराएं भी होनी चाहिएं। बेटा! देखो नाना अप्सराएं भी आ गई और सेवा होने लगी। उस समय उस मनुष्य के मन में मृतलोकीय पत्नी भी स्मरण हो गई और कहने लगा कि यदि इस समय वह मृतलोक वाली पत्नी यहाँ होती तो मेरे ऊपर डंडा भी होता। अब बेटा! देखो वह मृतलोक वाली पत्नी भी आ पहुँची। अब उस मनुष्य के ऊपर डंडा है। आगे आगे वह है और पत्नी पीछे है।

इतने में ऋषि नारद जी आ पहुँचे और कहा कि यह क्या है? नारद मुनि ने दीर्घ वाणी से कहा कि अरे मूर्ख! कल्पना को त्याग। उस समय उस मनुष्य ने अपनी समस्त कल्पनाओं को त्याग दिया। तो बेटा! वहां न पत्नी है, न अप्सराएं हैं और न कोई आसन है। नारद बोले कि अरे महापापी ! तूने इस कल्पवृक्ष के नीचे आ करके भोग विलासों की ही कल्पना की। यदि तू स्वर्ग की कल्पना करता तो तुझे स्वर्ग मिल जाता, ऋषि बनने की कल्पना करता तो ऋषि बन जाता और विष्णु की कल्पना करने पर विष्णु पद को प्राप्त हो सकता था।

मेरे भद्र पुरुषों! वाक्य उच्चारण करने का अभिप्राय यह है कि यह संसार एक कल्पवृक्ष है। इसमें रहते हुए मनुष्य की जैसी भी कल्पनाएं होती हैं, जैसी प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हीं के द्वारा वह अपने भाव को प्राप्त होता रहता है।

अरे! यहाँ संकल्प करो और वह संकल्प करो जिससे तुम आग्नेय बन जाओ। जब प्रभु ने यह संसार रचा तो देवताओं ने मिल करके कहा कि प्रभो! आपने जो संसार रचा है, इसका क्या महत्व है? यह जो मानव शरीर है, जिसमें अमर, अभय आत्मा विराजमान है, उसकी रचना की महत्ता क्या है? उस समय निर्णय किया गया कि यह संसार एक कल्पवृक्ष है। यहाँ यह जीवात्मा विद्यमान होकर जैसी कल्पना करता है, उसी को प्राप्त हो जाता है, यह देवयान को भी प्राप्त हो जाता है और मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है।

सत्य शुद्ध संकल्पमय आत्मा

ऋषियों ने बहुत ही अनुसन्धान करने के पश्चात् यह निश्चय किया है कि संसार में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति ये तीन पदार्थ हैं। तीनों पदार्थों को आज हमें भिन्न भिन्न स्वीकार करना और उन तीनों के स्वरूप को जानना ही हमारी महत्ता मानी गई है। क्योंकि जड़ और चेतन दोनों ही पदार्थ माने जाते हैं। वास्तव में आत्मा और परमात्मा दोनों ही चेतन माने गए हैं परन्तु दोनों की विशेषता भिन्न भिन्न है। हम परमपिता परमात्मा को जानने का प्रयास करें क्योंकि उस परमात्मा को जाने बिना और उसको कण कण में दृष्टिपात किए बिना बेटा! हम अपनी अन्तरात्मा को चेतनवत् कर ही नहीं सकते। उस अन्तरात्मा को जानना हमारे लिए बहुत अनिवार्य है। उसको जानने से ही हमारा कल्याण होगा और उसी को जानकर हम परमपिता परमात्मा के आंगन में रमण कर सकते हैं। प्रत्येक मानव के हृदय में उस आत्मा के जानने की वेदना रहती है कि आत्मा क्या है? मुनिवरो! हम ब्रह्म और आत्मा को किस रूप में स्वीकार करें? मुनिवरो! देखो, आत्मा की, जीव की और ब्रह्म की, यह तीन संज्ञाएं बनती हैं। वेदान्त शास्त्र में भी चेतन दो ही माने जाते हैं एक आत्मा और दूसरा ब्रह्म। आगे बहुत से सूत्र मिलेंगे जो इस भेद को प्रकट करेंगे। आत्मा भी अवस्था भेद से दो प्रकार का हो जाता है एक बद्ध और दूसरा मुक्त। बद्ध को जीव

संज्ञा और मुक्त को ईश्वर संज्ञा कहते हैं। इसका रूप तीन चेतन हुए एक शुद्ध ब्रह्म, दूसरे जीव और तीसरे ईश्वर अथवा सत्य शुद्ध आत्मा।

शुद्ध ब्रह्म

परमात्मा को ब्रह्म कहते हैं। वह परमात्मा महान् है। वह न कदापि जन्मता है, न नष्ट होता है। वह निर्द्वन्द्व एवं पूर्ण है। उसकी विद्या असीमित है। वह सर्वज्ञ ज्ञाता है। सब जगह पहले से ही पहुँचा हुआ है, सब काल व अतीत काल की वार्त्ता को जानता है तथा कण कण में ओत प्रोत होने के कारण उसके रहस्य व भेद को भली भांति जानता है। सब में ओत प्रोत है फिर भी सबसे पृथक है। साक्षीमात्र है। यह सब जगत उस महान् अखण्ड ज्योति में इस प्रकार पिरोये हुए हैं जैसे धागे में मनके होते हैं। वह सर्वज्ञ होने से सर्व द्वन्द्वों से स्वभावतः छूटा हुआ है, इसीलिए उसका स्वाभाविक स्वरूप आनन्दमय है। जब हम उसके आनन्दमय स्वरूप पर विचारते हैं, उस अनुपम ज्योति को अपने जीवन में धारण करने लगते हैं, तो वह ज्योति हममें भर जाती है और हमारे जीवन में अन्धकार नहीं आता। उसके राष्ट्र में रात्रि नहीं होती, सदैव प्रकाश रहता है। वह सर्व शक्तिमान है। सर्व शक्तियों का अधिष्ठाता होने से वह स्वयंभू है। वह सर्वज्ञ होने से 'अव्रणम्' शरीर के नस वाणी के बन्धन में नहीं आता और उसमें ओत प्रोत होते हुए भी केवल साक्षीमात्र अथवा पृथक रहता है। अतः वह आनन्दस्वरूप है। उसी को सच्चिदानन्द बह्म, शुद्ध ब्रह्म कहते है। उस प्रभु को जानने के लिए आचार्यों ने बल दिया है। उसको जानने से मृत्यु नहीं होती।

सत्य संकल्पमय आत्मा वह चेतन ज्ञान स्वरूप आत्मा (सदा रहने वाला) अल्पज्ञ है। अतः वह आत्मा आनन्द स्वरूप नहीं। बेटा! वह जो ''परब्रह्म'' है आत्मा उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म के प्रकाश में रमण करने के लिए लालायित रहता है, तत्पर हो जाता है। परमात्मा उसका सखा है, आत्मीय है। इसलिए बेटा! उस आत्मा को सत्य संकल्प आते रहते हैं और उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। उसके स्वाभाविक गुण ज्ञान व प्रयत्न हैं जो सदैव साथ रहते हैं। वह सदा सत्य संकल्प में निष्ठावान एक आत्मा है। वह जो परबह्म आनन्दस्वरूप उसके अन्तराय में विद्यमान है, उस प्रकाश में रमण करने के लिए ही शरीर रचना में अन्तःकरण रूपी दर्पण अनिवार्य हो जाता है। उस ''प्रत्यय'' माध्यम में ज्ञान व प्रयत्न से अपने भीतर व्याप्त आनन्दस्वरूप 'ब्रह्म' को विवेक से दृष्टिपात करता है। वह ब्रह्म आत्मा के भीतर व्याप रहा है, परन्तु गुणों में उस आत्मा से वह 'ब्रह्म पृथक् है, जिसको वह अल्पज्ञ आत्मा असमर्थ नहीं जानता, नहीं देखता। जिस प्रकार नेत्र में सुर्मा होता है। चक्षु जब बाहर की ओर देखता है, तब तक उसको अपने सुर्मे का दर्शन नहीं होता। जब सामने दर्पण रख कर चक्षु की वृत्ति बाहर जाने से रोककर भीतर की ओर लौटती है, तब नेत्र से नेत्र और उसके भीतर सुर्मे का ज्ञान होता है। ऐसे ही जब आत्मा अपनी बुद्धि वृत्ति को शुद्ध मन के दर्पण से बाहर की ओर जाने से रोक कर, अपने केवल्य स्वरूप में आत्मा व परमात्मा स्वरूप का ज्ञान होता है। उसी समय दुःखों से छूट जाता है और आनन्दी होता है।

हम देवासुर संग्राम समाप्त हो जाने पर आत्मा की प्रतिभा स्वीकार करते हैं। जब आत्मा का ''चिन्तम ब्रह्म व्यापः'' नाना प्रकार के आवेश समाप्त हो जाने पर प्रकृति के मूल कारण पर चले जाते हैं, तो यह मन, बुद्धि, चित्त अहंकार उसकी वृत्तियों में भासने लगते हैं और चित्त की भी संज्ञा जब समाप्त हो जाती है तो उसको हमारे यहाँ मुक्ति की अवस्था कहते हैं। जब यह आत्मा अपने स्वरूप में प्रवेश करता है तो प्रकृतिवाद एकवाद रह जाता है। जब तक आत्मा का प्रकृति से मिलान रहता है, संस्कारों में जो प्रारब्ध है, पिरोया हुआ है, उनमें देखो जकड़ा हुआ रहता है, तब तक मानव नृत्य करता रहता है।

वह मेरी प्रिय आत्मा आलिंगन धर्मी है। प्रकृति के साथ रहते हुए उस जीव संज्ञा में आत्मा के स्वाभाविक धर्मज्ञान, प्रयत्न के साथ साथ नैमित्तिक गुण, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष भी चिन्ह मान लिए जाते हैं, जो वृत्तियों के स्वरूप में भासने लगते हैं जैसे मणि तो श्वेत है, पवित्र है, परन्तु बाह्य रंग के आवरण में बाह्य वृत्तियों में तदाकार प्रतीत होता है। उस ब्रह्म के सान्निध्य में भी उस आत्मा को ब्रह्म का आनन्द स्वरूप भासने लगता है, आनन्दी रहता है, वह भी ब्रह्म के निमित्त में गौण है, नैमित्तिक है। अतः बन्ध मोक्ष प्रवाह रूप से अन्धकार और प्रकाश के समान बने ही रहते हैं।

प्रश्न : क्या मोक्ष में भी उस आत्मा की जो स्वाभाविक संज्ञा (आनन्द का अभाव) अल्पज्ञता विद्यमान रहती है। उस स्थिति में तो आनन्द स्वरूप हो जाना चाहिए और उस आत्मा की जो संज्ञा अल्पज्ञता है वह नहीं रहनी चाहिए?

उत्तर : (तत्त्व ज्ञान) उस अल्पज्ञता को जो मूल में विद्यमान है, हटा नहीं सकता। ब्रह्म के ज्ञान के प्रकाश में अविवेक जो रद्द हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का अभाव हो जाता है। जैसे एक लोहे का गोला अग्नि में अर्पण कर देने पर आग्नेय

स्वरूप तो हो जाता है, परन्तु अपना निज स्वरूप बना ही रहता है और अन्त में लोहे का लोहा ही रह जाता है। आत्मा क्या है? आत्मा वह चेतन सत्ता है जो आनन्द गुण के अभाव अपूर्ण एवं अल्पज्ञ है। वह सत्य संकल्पमय नित्य चेतन (ज्ञान स्वरूप), नित्य अपरिणामी अथवा किसी अवसर में भी उस संज्ञा में परिवर्तन नहीं होता। ज्ञान व प्रयत्न उस आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, जो सदैव उसके साथ बने रहते हैं। विवेक का अविवेक उसके गौण स्वरूप हैं।

मोक्ष में आत्म स्वरूप

पुष्प 2 जब मोक्ष होता है तो बेटा! संस्कार नहीं रहते। इन इन्द्रियों के तथा अन्तःकरण बुद्धि आदि के विषय नहीं रहते। संस्कारों के न रहने का नाम ही मोक्ष कहा जाता है।

जब वह निर्मल और पवित्र आत्मा ''ब्रह्म'' में रमण करने लगता है क्योंकि जो बीच की सीमा प्रकृति के स्वरूप की थी वह समाप्त हो गई, जिसे हमने परिवार आदि के नाम से सम्बोधित किया था। आत्मा ज्ञान और प्रयत्न के साथ एक होकर वह परमपिता परमात्मा की महान् चेतना में रमण करने लगता है, उसे प्राप्त हो जाता है। वह परमात्मा उसका सखा है। वह अपने सखा को जब प्राप्त हो जाता है तो उसी के आंगन में आनन्दित रहता है। मुनिवरो! जैसे माता का प्रिय बालक क्षुधा लगने के पश्चात् माता की लोरियों में प्राप्त हो जाता है। लोरियों को प्राप्त करने के पश्चात् उसे मानो एक आनन्द प्राप्त हो जाता है क्योंकि उसी प्रकार वह आत्मा परमात्मा की गोद में पहुँच कर आनन्द को प्राप्त होता है। उस आनन्द की पिपासा में सदैव सत्य संकल्प और उसी के लिए ज्ञानशील व प्रयत्नशील बना ही रहता है। वह ही उसका अमर स्वरूप है, वह ही नित्य स्वरूप है। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला सूर्य को, जल सागर की ओर, मिट्टी का ढेला पृथ्वी की ओर प्रेरित करता रहता है, उसी प्रकार उस चेतन आत्मा की ऊर्ध्वगति सत् चित्त आनन्द परमात्मा की ओर रहती है।

मोक्ष में उस मुक्त आत्मा के साथ भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक नहीं रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, जब स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहंकार के अर्थ अहंकार रूप अपनी स्वशक्ति से वह आत्मा भक्ति में हो जाती है। उस समय अपने शुद्ध सांकल्पिक शरीर के आधार रह कर वह आत्मा आनन्द का उपभोग अबाधगति से करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता और जो उसके नाश को ही मुक्ति कहते है वे महामूढ़ हैं क्योंकि दुःखों से छूटकर आनन्द स्वरूप, अनन्त परमेश्वर में आनन्द में रहना ही मुक्ति है (शतपथ ब्रा.॥ काण्ड 14॥ अनुवादक महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थ प्रकाश)

६ जीव सम्पन्न शरीर का महत्व

पुष्प 14 शरीर में आत्मा के आने का उद्देश्य यह है कि संसार में कर्म करते हुए वह परमपिता परमात्मा के आंगन में जाने का प्रयास करे क्योंकि उस परमपिता परमात्मा की प्रतिभा में रमण करके वह महान् बन जाता है। मुनिवरो! मैं इन वाक्यों को गम्भीर बनाने नहीं जा रहा हूँ। यह विचार तो केवल मंथन करने का होता है, अनुसन्धान करने का हेता है, इस पर विचार विनिमय करना चाहिए।

यह जो मानव शरीर है, इस मानवपुरी को, जो आत्मा का अधिष्ठान है विष्णु ने विष्णु पुरी कहा है, ऋषियों ने ऋषि पुरी कहा है, देवों ने देवपुरी कहा है। हे प्रभो! आज मैं इस पुरी को जानना चाहता हूँ, यह कैसी विचित्र नगरी है जिसमें अमृतमय आत्मा विराजमान है। इस नगरी में अष्ट चक्र व नव द्वार हैं। इसमें रमण करने वाला जो रमेती रमण कर रहा है, जो चेतन है, जिसे राम कहते हैं, जो प्रत्येक कण कण में रमण करने वाला है इस महान् अयोध्या पुरी में रम रहा है। आज हम उस पर विचार विनिमय करते जायें।

बेटा! विष्णु ने विष्णु पुरी कहा है क्योंकि जब आत्मा उच्च संकल्प में रमण करने लगता है और सतोगुण की प्रधानता से ज्ञान में निष्ठावान रहता है, महान् बन जाता है, देखो दूसरों के प्रति दया, नम्रता, ओज (सुखियों को देखकर हर्ष, दुखियों को देखकर दया, इन बेचारों का दुख कैसे दूर हो मित्रों को देख कर मित्र भाव और पापाचरण में रमण करने वालों के प्रति उपेक्षा भाव) वह तेजस्वी, ओज से परिपूर्ण विष्णु लोक को प्राप्त रहता है। इसलिए विष्णु ने इस महान् शरीर को विष्णु पुरी के नाम से सम्बोधित किया है।

'ब्रह्मा' ने ब्रह्मपुरी मान है। ब्रह्मा उसे कहते हैं जो चारों वेदों का महान् पण्डित है। वह यज्ञशाला में परिणित हो जाता है। यज्ञशाला भी दो प्रकार की होती है। एक वह जो बाह्य यज्ञशाला है जिसमें कर्म काण्ड द्वारा भौतिक यज्ञ का विधान रचा जाता है। द्वितीय आन्तरिक यज्ञशाला होती है जिसमें बेटा! नित्यप्रति विचारों का यज्ञ होता है, विचारों की सुगन्धि होती रहती है। यह कैसी सुन्दर यज्ञ वेदी है। आज हम संसार से उपराम होना चाहते हैं तो जो हमारे दस पात्र हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां और इन पात्रों का जो 'होता' है,

आहुति दे रहा है वह आन्तरिक प्रवृत्तियां मानो वह मन है, बुद्धि है, तथा ब्रह्मा वह परमदेव हैं और आत्मा यजमान बना बैठा है। जो मानव आन्तरिक यज्ञ करने वाला है वे यज्ञशाला मे 'हवि' प्रदान करता रहता है। वह इस संसार सागर से उपराम होकर 'ब्रह्मा' कहलाता है। इसलिए इस शरीर को ब्रह्मपुरी भी कहा जाता है।

मुनिवरो! ऋषियों ने इसे ऋषिपुरी कहा है, क्योंकि विज्ञान इसमें ओत प्रोत रहता है। बेटा! आज जो मानव लोकलोकान्तरों को जानना चाहता है, आज जो मानव उस प्रभु के आंगन में पहुँचकर उस चेतना में रमण करने के लिए संकल्प रखता है, तो अभ्यास द्वारा आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाए। ब्रह्मरन्ध्र में लगभग एक सहस्र नाड़ियां होती हैं और उनमें से लगभग 94 94 नाड़ियों का विकास होती है जिनका सम्बन्ध देखो नाना प्रकार के लोक लोकान्तरों से होता है। जिस योगी का संकल्प 'दर्शन' करने वाला होता है देखो वह जब लघु मस्तिष्क, अकान्त मस्तिष्क और ब्रह्मरन्ध्र में जब परिणित हो जाता है, उस समय संसार का कोई लोक ऐसा नहीं, जो आत्मा दिग्दर्शन न कर ले। मैं इस समय योग पर नहीं जाना चाहता हूँ। वाक्य उच्चारण करने का अभिप्राय यह कि इस महान् शरीर को ऋषिपुुरी के नाम से प्रतिष्ठित किया है।

बेटा! इन्द्र ने इन्द्रपुरी माना है। इन्द्र किसे कहते हैं? जो अपनी इन्द्रियों का स्वामी है। इस आत्मा को इन्द्र कहते हैं। वह आत्मा उस काल में इन्द्र बनता है जब देवत्व को प्राप्त हो जाता है, देवों को जानने वाला होता है और उस समय उस संकल्प के आधार पर उस पुरी को, जिसमें रमने वाला वह इन्द्र है, इन्द्रपुरी कहा है।

बेटा! जब तक वह आत्मा से प्रेरित हुई कामना वाला है, वह तो सत्य शुद्ध संकल्प के स्वरूप में प्रकट होकर उसकी ऊर्ध्वगति होती है। उस समय जब देवासुर संग्राम होने लगता है। ''जीवःप्रवे'' जीव संज्ञा में जब तृष्णा के क्षेत्र में प्रेरित हुई कामनाएं उत्पन्न होने लगती हैं तो संसार के लिए कामना व प्रवृत्ति बढ़ जाती है। उस समय विकल्प के आधार पर रहकर, जिसमें रमने वाला वह जीव, यमपुरी से सम्बोधित किया गया है।

तो मेरे भद्र पुरुषों! यदि आज तुम अपने जीवन को महान् बनाना चाहते हो तो जो मानव शरीर है, उसके विज्ञान को सार्थक बनाओ। इसका सदुपयोग करो। विकल्पवादी न बनो। कामनाओं पर अधिकारी बनो।

मेरे प्यारे महानन्द जी उच्चारण किया करते हैं कि आज का संसार चिन्ता में लीन है, कभी हमें अपने जीवन की चिन्ताएं हैं तो कभी राष्ट्र की चिन्ताएं हैं, कभी उदर पूर्ति की चिन्ताएं हैं, कभी परिवार, कंचन कामनी व वैभव की चिन्ताएं हैं। उनका मूल कारण क्या है? उनका मूल कारण यह है कि हमने सत्य आत्मा के आदेश को त्याग दिया है।

आत्मा का भोजन

(पुष्प 28) : अन्तरात्मा का भोजन है आत्म ज्ञान, परमपिता परमात्मा की उपासना, परमात्मा का चिन्तन, वेदों का अध्ययन, ऋणों से उऋण होना, यज्ञ करना अथवा देव पूजा करना। एकान्त स्थान में विराजमान हो करके ब्रह्म चिन्तन करना और प्राण का आत्मा से मिलान करना आत्मा का सर्वोपरि भोजन माना गया है। ज्ञान, विज्ञान भी आत्मा का भोजन है। आत्मा उसके बिना भी भूखा रहता है। जो आत्मा को भोजन देने वाले होते हैं, उनके हृदय में विडम्बना, निराशा, भय, पीड़ा नहीं रहती। उनका मन प्रकृति के आवेशों से उपराम रहता है।

मन का शोधन करना है तो आत्मा को भोजन दो क्योंकि आत्मा के प्रकाश में ही यह मन कार्य कर रहा है, उसी प्रकाश में मन कार्य करता है। मन तो जड़ पदार्थ है।

ऋषियों ने इसीलिए चेतावनी दी है कि मन का शोधन होनेसे पूर्व आत्मा को भोजन देना चाहिए। आत्मा का भोजन सत्संग है, चिन्तन है, आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय है, वेदों का अध्ययन, यज्ञ करना, यह सब आत्मा का भोजन है। जब आत्मा इन सबसे तृप्त होता रहेगा तो आत्मा से वही धारा उत्पन्न होगी जिससे मन रूपी दर्पण पवित्र रहता है।

'मन' वह दर्पण है जिसमें आत्मा अपने स्वरूप का दर्शन करता है। दर्पण यदि मलीन है उसमें निज स्वरूप का ज्ञान होना असम्भव है। यदि मन रूपी दर्पण स्थिर नहीं, चंचल है, तो भी दर्शन की कोई आशा कदापि नहीं की जा सकती और यदि आत्मा व मन रूपी दर्पण के बीच आवरण है तो भी आत्मा अपने निज स्वरूप का ज्ञान करने में असमर्थ रहेगा।

अहिल्या उस आत्मा का नाम अहिल्या भी है। रात्रि में जब रेणुका और आत्मा का मिलान होता है तो उसका मिलान परमात्मा से हो जाता है। उस समय आत्मा को आनन्द छा जाता है। ॥पुष्प 4॥

इन्द्र यह आत्मा नाना प्रकार का रूप धारण करता है। इसमें ज्ञान भी है, विज्ञान भी है। जब वह आत्मा इन्द्रियों को जीत लेता है तो वह इन्द्र बन जाता है। ॥पुष्प 5॥

शिव जब मानव शिव संकल्प धारण करता है और शिव का पुजारी बनता है तो वह आत्मा प्यारे प्रभु को पाकर शिव कहलाता है। एक महाशिव होता है। यह आत्मा महाशिव कभी नहीं होता, केवल शिव होता है। ॥पुष्प 4॥

शरीर में आत्मा का निवास

यह जो मानव शरीर है, यह मानवपुरी आत्मा का निवास स्थान है। जब यह आत्मा शरीर से चला जाता है तो यह शरीर शव बन जाता है। हम जानना चाहते हैं कि शरीर में, इस नगरी में आत्मा कहाँ रहता है? 1 जागृत अवस्था में यह आत्मा नेत्रों में निवास करता है। उसका स्वरूप बन करके नेत्रों का कार्य बन जाता है। क्योंकि ये नेत्र तभी तक दृष्टिपात कर सकते हैं जब तक आत्मा शरीर में है। जो मानव आत्मा का दिग्दर्शन करना चाहता है वह सूर्य की किरणों से अपना दिग्दर्शन करता है। उससे नेत्रों की ज्योति में दोनों ज्योति प्रादुर्भाव हो करके ज्योतिष्मान को प्राप्त हो जाती है।

2 स्वप्नास्था में आत्मा का स्वरूप मन के क्षेत्र में होता है। मन में विभाजन करने की शक्ति है तथा उसका सम्बन्ध चित्त से रहता है। इसलिए जो जन्म जन्मान्तरों के संस्कार हैं या पहले दिवसों के या बाल्यकाल के संस्कार हैं, यह मन उनको आत्मा के समीप, उसके आत्म दर्पण में तथा उसको आत्मा में लाता रहता है। वह ही स्वप्न रूप में वह देखता रहता है।

वह मन प्रकृति से बना होने के कारण और इसका सम्बन्ध चित्त, बुद्धि से होने के कारण इन्द्रियों के विषय में ओत प्रोत होकर नाना प्रकार की विषय वासना में लग जाता है, कहीं मग्न हो जाता है, कहीं सुन्दर जलाशयों के तट पर विचरण करता है, कहीं निर्धन से अधिराज बनता है, कहीं अधिराज से निर्धन।

3 सुषुप्ति अवस्था में आत्मा प्राण के साथ रहता है। क्योंकि प्राण बिना यह आत्मा संसार में कोई कार्य नहीं कर सकता। वास्तव में संसार में यह आत्मा, यह प्राण ही जागता है और सब सुषुप्ति अवस्था मे परिणित हो जाते हैं।

जब प्राण भी आत्मा के साथ नहीं रहता तो आत्मा का स्वरूप चेतना होता है। वह ही तुरीय अवस्था है। वह अनिर्वचनीय है। वह ही अद्वेत है, वह ही शिव है।

शरीर रचना का क्या महत्व है? बेटा! देखो जैसे माता का बालक है, गौ दुग्ध देती है, और वह माता उस दुग्ध की क्रिया बना करके उससे घृत निकाल लेती है। उस घृत को अपने बालक को अर्पण कर देती है। ऐसे ही बेटा! वह परमात्मा प्रकृति को तपाकर अपने बालक 'आत्मा' का शरीर रचा करते हैं। हम उस शरीर विज्ञान को जानना चाहते हैं। उसे जानना हमें अनिवार्य हो जाता है। देखो कैसी अद्भुत रचना है उस विधाता की कि शरीर के जितने अवयव हैं, उस परमात्मा के नियमों में कटिबद्ध रहते हैं। बाह्य विषयों को इन्द्रियां, चक्षु से रूप का ज्ञान, श्रोत्र से शब्द ज्ञान, त्वचा से स्पर्श, जिह्वा से रस, नासिका से गन्ध मानो पांचों ज्ञानेन्द्रियां सम्वेदना को ग्रहण करती हैं। मानो शरीर रूपी कैमरे में बाह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाह्य शीशा लगा हुआ है और प्रतिबिम्ब उसमें छम्ळ।ज्ष्टम् में आता है। उसके भीतर 'मन' का द्वितीय शीशे से सम्बन्ध होने से बाह्य विषय एवं बाह्य सम्वेदनाएं मन रूपी शीशे से सम्बन्ध होने से बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब सीधा च्ंेप्ज्ष्टम् में हो जाता है। उस मन का सम्बन्ध बुद्धि, चित्त, अहंकार से होता है। मन में विभाजन करने की शक्ति है। उस मन का संबंध इन्द्रियों की भांति चित्त से भी है। अतः वह मन बाहर भीतर (उभयो) दोनों ओर से सम्वेदनाओं को व स्मृतियों को ग्रहण करके संकल्प विकल्प करता है। चित्त में जन्म जन्मान्तरों के संस्कार अंकित हैं। उनके ही आधार पर अहंकार (अहंभाव) अपना कार्य करने लगता है। बुद्धि, निर्णयात्मक बुद्धि निर्णय देने का कार्य करती है और विशेष चित्त के अधीन ही रहती है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सब मिलकर ही अन्तःकरण एवं आत्मा का दर्पण है। मानव जीवन का उद्देश्य ही यह है कि उस मन रूपी दर्पण को ज्ञान से मल, विक्षेप आवरण से शुद्ध करने का प्रयास करे। आत्मा भीतर से प्रकाश दे रहा है, उसे उसके सत्य शुद्ध संकल्प के अनुकूल आहार मिलता रहा तो उसका प्रकाश निश्चय मन को उज्ज्वल बना देगा। यह ही शरीर रचना का विशेष महत्व है। प्राण शरीर में अपने अपने क्षेत्र में रहकर समस्त शरीर अवयवों को शक्ति प्रदान करते हैं।

७ मधु विद्या

कठोपनिषद्ः नचिकेता के पिता वाजश्रवा ने अपना सब कुछ दान में दे दिया। दान देते समय नचिकेता को आस्तिक बुद्धि उत्पन्न हो गई। वह सोचने लगा कि जो गायें बांझ हैं, जिनका दुग्ध दुहा जा चुका है, उनको जो दान देता है, वह आनन्द रहित लोकों को प्राप्त

होता है। सर्वस्व दान दे देने पर भी उसने अपने पिता से पूछा कि मुझे आप अब किसे दोंगे। बार बार ऐसा ही पूँछने पर उन्होंने कहा कि तुझे मृत्यु के लिए देता हूँ। नचिकेता यह सुनकर घर से चल दिया। मृत्यु के घर जाते समय वह सोचने लगा के मुझसे पूर्व कितने आये और चले गए और आगे भी आने जाने वाले हैं मानव शरीर तो आने जाने वाले, धान के सदृश उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शरीर तो सदैव कारागार बनकर घेरे ही रहते हैं। हे मृत्योः तू ने ही मुझे सचेत किया है, मृत्यु ने ही मानव को कुछ सोचने का अवसर दिया है। यह सोचते सोचते वह यमाचार्य के आश्रम में जा पहुँचा यमाचार्य की अनुपस्थिति के कारण वहीं प्रतीक्षा में तीन दिन तक भूखा रहता रहा।

हे विवस्वान के पुत्र यम आपके गृह में ब्राह्मण अतिथि प्रविष्ट हुआ है। जिस गृह में ब्रह्मवत अतिथि भूखा (अनशन) रहता है, उसके अल्पबुद्धि, आशा, मधुरभाषिता (इष्ट) यज्ञादि के फल, (आपूर्ते) स्मृत्ति कर्म के फल, पुत्र और पशु ये सब नष्ट हो जाते हैं।

उस ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को यमाचार्य ने कहा कि हे विद्वान अतिथि आपको नमस्कार हो, मेरा कल्याण हो। हे ब्रह्मन्! जो मेरे गृह में आप तीन रात्रि अनशन रहे इसलिए मैं आपको तीन वरों को देता हूँ। उनको स्वीकार करें।

नचिकेता ने कहा, हे मृत्योः मेरा पिता मुझसे प्रसन्न हो। यह मैं प्रथम वर मांगता हूँ।

उद्दालक वंशी तेरा पिता तुझसे प्रसन्न व सन्तुष्ट होकर सुख से सोवेगा और तुझको मृत्यु के मुख से मुक्त छूटा हुआ देखेगा। अब तू द्वितीय वर मांग। ऐसा यमाचार्य ने कहा।

तब नचिकेता बोला कि हे मृत्यो आचार्य! वह कौन सा लोक है, जहाँ मृत्यु नहीं सताती, जरा अवस्था, बुढ़ापे का दुःख नहीं होता। जहाँ स्वर्ग प्राप्त पुरुष अमृत को सेवन करते हैं, उस अग्नि को जानता है, सो वर्णन कीजिए। यह द्वितीय वर मांगता हूँ।

हे नचिकेता! उस अग्नि को जानता हुआ तेरे लिए चाहता हूँ कि वह विविध लोकों को प्राप्त कराने वाला, जगत् की स्थिति का हेतु हृदय (गुहायाम) हृदयाकाश में स्थित है उस अग्नि का चयन कर। उस नचिकेता का अग्नि चयन करने वाला ज्ञान कर्म उपासना की सन्धि में प्रतिष्ठित जन्म मरण से छूट जाता है। उस परमपिता परमात्मा के हृदयाकश में साक्षात् करने पर मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है, कर्म क्षीण हो जाते हैं, समस्त संशय दूर होते हैं। (विदित्त्वा) उसको जानकर मृत्यु की बेड़ियों को काटकर शोक से रहित आनन्द को प्राप्त होता है। हे नचिकेता अब तू तीसरा वर मांग।

नचिकेता बोला मनुष्य के मरने पर यह आत्मा बाकी रहता ऐसा कुछ लोग मानते हैं और नहीं रहता ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं, जो यह सन्देह है आपसे उपदेश किया हुआ मैं जानूं, यह तीसरा वर माँगता हूँ।

तब यमाचार्य ने कहा कि हे नचिकेता यह सुगमता से जानने योग्य नहीं, कोई और वर मांग, इस वर को छोड़ दे।

हे प्रभो! इस विषय का उपदेश करने वाला आपके तुल्य और नहीं मिल सकता। इस वर के अतिरिक्त और कोई वर नहीं है। नचिकेता ने ऐसा कहा।

यमाचार्य ने उसे पुनः कहा कि 100 वर्ष जीने वाले पुत्र और पौत्रों को मांग, पशु, घोड़े, हाथी, सुवर्ण, माण्डलिक राज्य मांग, तेरा यशकीर्ति सारे विश्व में हो उसे मांग। जो दुर्लभ कामनाएं हैं, उनको मांग, सुन्दर रमणीय युवतियां जो साधारण मनुष्य के लिए दुर्लभ हैं, उनको मांग और इस वर को छोड़ दे।

तब नचिकेता ने कहा, हे मृत्योः यह समस्त कामनाएं तो तेज का नाश कर देती हैं। कामनाएं भोग करने से तृप्त नहीं होतीं। किन्तु जैसे अग्नि की ज्वाला घृत डालने से वेगवती हो जाती हैं, इसी प्रकार संसार की समस्त कामनाएं भोग करने से और अधिक बढ़ जाती हैं। जो सूक्ष्म रहस्य मेरे मन में प्रविष्ट है, उससे भिन्न नचिकेता नहीं चाहता। मुझे तो उसी मधु विद्या का ज्ञान कराईये। इस आत्म ज्ञान का वक्ता कोई विरला ही होता है, उसका पाने वाला कोई प्रवीण ही होता है।

ऐसे नचिकेता के वाक्य को सुनकर यमाचार्य ने उसको कहा कि तू जिस बुद्धि को प्राप्त हुआ है, उससे निश्चल, धरि, धैर्य वाला है। हे नचिकेता! तेरे समान ही हमसे पूछने वाला हो। तेरे लिए ब्रह्म (आनन्द) का द्वार खुला है।

वह चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मरता है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, कोई इससे उत्पन्न नहीं हुआ। वह आत्मा अजर, अमर, है। नित्य शाश्वत सनातन है। शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता। यदि मारन को अर्थात् उसने आत्मा को मार दिया ऐसा हन्ता समझता है और यदि (हतः) मरा हुआ आत्मा को जानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, यह आत्मा किसी को नहीं मारता और न किसी से मारा जाता है।

उस आत्मा से सूक्ष्म जो 'ब्रह्म' है, अति सूक्ष्म है, वह हृदय गुहा में स्थित है। उसे बुद्धि के निर्मल होने से निष्काम होकर, शोक

रहित होकर देखता है। उस 'ब्रह्म' को चंचल चित्त भी नहीं पाता। संशयात्मा भी नहीं प्राप्त करता! तृष्णा में फंसे हुए मन वाला भी नहीं प्राप्त होता। वह प्रज्ञा बुद्धि से ही प्राप्त होता है।

आत्मा के द्वारा 'ब्रह्म' में प्रवेश करे। ब्रह्मवेत्ता ही उसे गुहा (हृदयाकाश) में देखता है।

आत्मा को रथी जान और शरीर को रथ जान और बुद्धि को सारथी ज्ञान और मन को लगाम जान, इन्द्रियों को अश्व जान और संसार के विषयों को मार्ग जान।

मन को सत्य संकल्प द्वारा वश में रखने वाला मानव उस पद को प्राप्त होता है, जिससे फिर उत्पन्न नहीं होता। जो प्रज्ञा बुद्धि वाला, मन की लगाम वश में रखने वाला व्यापक 'ब्रह्म' के सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होता है।

पुष्प 14 मधु विद्या मुनिवरो! जब यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि तू संसार के ऐश्वर्य व वैभव को क्यों स्वीकार नहीं करता, जिससे अनेक प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

तो नचिकेता ने कहा कि ये सांसारिक ऐश्वर्य व वैभव आज हैं कल नहीं रहेंगे। मैं तो वह ज्ञान चाहता हूँ जो इस आत्मा के साथ बना रहे, तब यमाचार्य ने ज्ञान देना प्रारम्भ किया।

हे ब्रह्मचारी! यह मानव का स्थूल शरीर पार्थिव प्रधान माना गया है। इसमें अपान, व्यान, उदान, समान आदि प्राण कार्य करते हैं। मानव के एक एक श्वांस में एक अरब, पांच सौ बावन वायु के परमाणु, इतने ही अग्नि के तथा इतने ही अन्तरिक्ष तथा इतने ही जल के और दो खरब, पचानवे अरब, बावन करोड़, उनतीस लाख, उन्नचास हजार पृथ्वी के परमाणु जाते हैं इतने ही श्वांस के साथ बाहर निकल जाते हैं। इससे मानव का जीवन संचालित रहता है।

जब यह आत्मा शरीर को त्यागकर जाता है तो उस समय सत्रह तत्त्वों का शरीर माना जाता है, जिसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच प्राण, पांच तन्मात्रायें व मन, बुद्धि के तत्त्व होते हैं। इन्हीं के गर्भ में चित्त और अहंकार होता है। जो कुछ ज्ञानेन्द्रियों का तथा कुछ तन्मात्राओं का प्रतिनिधि माना गया है।

श्वांसों की गति के साथ साथ उन श्वांसों के परमाणुओं को जो वैज्ञानिक जान लेता है, वह संसार में मानव शरीर का निर्माण कर सकता है। मानव शरीर को बिना माता पिता के गर्भ के ही परमाणुओं को एकत्रित करने की क्षमता योगी में आ जाती है।

सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर ऐसा होता है जो वायु में रमण करने वाला होता है। मानव के जन्म जन्मान्तरों के संस्कार उस शरीर के साथ रहते हैं।

उज्ज्वल कर्म करते हुए, जब यह सूक्ष्म शरीर के अवयव जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों सहित नष्ट हो जाते हैं, तो वह अन्तरात्मा उज्ज्वलता में आत्म शान्ति में परमात्मा के समीप चला जाता है। ज्ञान और प्रयत्न, उसके स्वाभाविक गुण उसके साथ रहते हैं। वह आत्मा उस परमपिता परमात्मा की प्रतिभा में, उस महान् चेतना में रमण करने लगता है। वह आत्मा नष्ट कदापि नहीं होता।

यह जो आत्मा है, ज्ञान स्वरूप है, जगत् की प्रवृत्तियों को समेटकर मन में स्थिर करे, वाणी को मन में ठहरावे, उस मन को बुद्धि में ठहरावे और बुद्धि को अन्तःकरण महतत्त्व (चित्त) में जहाँ संस्कार रहते हैं, में स्थिर करे। इन सब की एक धारा बन जाती है। जब सब प्रक्तियां चित्त में लय हो जाती हैं, तो उसके प्रशांत आत्मा में ठहरा देवे। यह आहुति देकर प्रभु से मिलान होता है। आत्मदर्शी लोग इस मार्ग को छुरे की धार पर चलने के समान बतलाते हैं।

८ **आत्म चेतना**

पुष्प 12 मेरे प्यारे ऋषिवर! एक समय महर्षि याज्ञवल्क्य मुनि महाराज बड़े आनन्दपूर्वक भ्रमण करते हुए राजा जनक के द्वारे जा पहुंचे। राजा जनक ने बड़ा आदर किया और चरणों की वन्दना की। उसके पश्चात् उन्होंने कहा कि प्रभो! मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि हमारे जो चक्षु हैं, वह किसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। ऋषि ने कहा कि हमारे जो नेत्र हैं, वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। क्योंकि सूर्य नेत्रों का देवता होता है। सूर्य की प्रतिभा आती है तो मानव के नेत्र प्रकाशित हो जाते हैं।

उसके पश्चात् राजा जनक ने कहा कि भगवन्! मैं यही जान पाया हूँ, किन्तु जब सूर्य नहीं होता उस समय नेत्रों का देवता कौन होता है? उन्होंने कहा कि हे राजन्, जब सूर्य नहीं होता, उस समय हमारे नेत्रों का देवता चन्द्रमा होता है, चन्द्रमा प्रकाश देता है, उस चन्द्रमा की कान्ति में भी कार्य करने में तत्पर रहते हैं। राजा जनक ने पुनः प्रश्न किया कि जब यह चन्द्रमा भी नहीं होता, सूर्य भी नहीं होता, तो उस समय हमारे नेत्रों का देवता कौन होता है। उन्होंने कहा कि राजन्! जब वह सूर्य व चन्द्रमा नहीं होते तो हमारे नेत्रों का

देवता अग्नि माना गया है, उसके प्रकाश से हमारे नेत्र प्रकाशमान होते हैं और हम नाना प्रकार के कार्यों में संलग्न रहते हैं। राजा जनक ने पुनः प्रश्न किया कि जब वह अग्नि का भी प्रकाश नहीं होता तो हमारे नेत्रों का देवता कौन होता है? उन्होंने कहा कि उस समय मानों नेत्रों का देवता यह नाना प्रकार के तारा मण्डल होते हैं, उन्हीं की प्रतिभा में नेत्र प्रकाशित रहते हैं। राजा जनक ने पुनः प्रश्न किया कि प्रभो! जब यह तारा मण्डल भी नहीं होते तो हमारे नेत्र किसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। उस समय ऋषि ने कहा कि हे राजन्! जब यह तारा मण्डल भी नहीं होता तो हम वाक् के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। जैसे कोई घोर अन्धकार में विराजमान है, उस समय वह वाणी द्वारा दूसरे से मार्ग पूछता है और दूसरा मानव कहता है कि आओ मैं मार्ग मे स्थिर हूँ। उसी शब्द के प्रकाश से वह मार्ग अपना लेता है। राजा ने कहा, कि हे ऋषिवर! जब यह शब्द भी नहीं होता तब हमारे नेत्र किसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। उस समय ऋषि ने कहा कि हे राजन्! जब यह सूर्य भी नहीं होता, चन्द्रमा, अग्नि और तारा मण्डल नहीं होते और शब्द भी नहीं होता, वाणी का भी अभाव होता है, उस समय हम एकाग्र होकर आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। उस आत्मा की ज्योति ही हमें मार्ग दिखाती है। आज हमें उस आत्मा को जानना चाहिए। वह आत्मा ही प्रकाश का देने वाला है। इस शरीर में जब तक आत्मा विराजमान है, तभी तक इसमें चेतना है। जब आत्मा शरीर से चला जाता है उस समय मुनिवरों! सूर्य भी, मानव के नेत्र भी हैं परन्तु मानव प्रकाशवान नहीं क्योंकि प्रकाशवान आत्मा तो चला गया। जब मानव नितान्त अन्धकार में होता है तो उस समय आत्मा का ज्ञान (प्रकाश) साथ होता है, उससे मार्ग ग्रहण कर लेते हैं।

मुनिवरो! वाक्य उच्चारण करने का अभिप्राय यह है कि मानव को चेतना देने वाला तो आत्मा ही है, इसलिए उस आत्मा को जानना ही हमारा कर्त्तव्य है। उस आत्मा को जानने से ही हमारा कल्याण होगा। संसार के नाना प्रकार के भोग विलासों में मानव को शान्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। इसी को हमारे यहाँ ऋत् कहा जाता है क्योंकि अन्तरात्मा जिसके द्वारा मानव में चेतना आती है। उस अन्तरात्मा से ही मानव का शरीर प्रकाशित होता है। आगे याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि हे राजन् जो यह शब्द की उत्पत्ति है, वह भी अन्तरात्मा से ही उत्पन्न होता है, परन्तु उसमें बाह्य मिलान से एक ओज आ जाता है, परन्तु शब्द का जो विकास है, वह अन्तरात्मा से है और वह मन के क्षेत्र से परे शब्द की उत्पत्ति होने लगती है क्योंकि आत्मा से वेदनाएं, धाराएं चलती हैं। यह धाराएं प्राणों के द्वारा रमण करती हुई, मन के द्वारा, मन से इन्द्रियों के द्वारा, उनसे उसका बाह्य स्वरूप बन जाता है। अतः यह आत्मा की ही वाणी है। बिना आत्मा के मानव शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता। जब राजा मौन हो गए तो ऋषि ने कहा कि अब तुमको ज्ञान हो गया होगा कि माता के गर्भस्थल में भी यदि जीवात्मा नहीं होगा तो रजवीर्य के परमाणु हैं, उन परमाणुओं मे भी स्थूलता, सुगठित कदापि नहीं आ सकती। उस आत्मा की ही चेतना में पुत्र अथवा पुत्री पनपते हैं, जरायुज परिपक्क होता है।

जैसे चन्दन का वृक्ष अपने समीप के वृक्षों को भी चन्दन बना देता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी सब शरीर अवयवों को सुगन्धित कर रहा है।

उद्दालक श्वेतकेतु सम्वाद उद्दालक ऋषि ने तत्त्वमसि का उपदेश देते हुए श्वेतकेतु को कहा कि आत्मा ही अणिमा है, सूक्ष्म तत्व है। वह आत्मा ही सत् है, यह शरीर तत्व वस्तु नहीं। वह आत्मा ही शरीर में वाणी, मन व प्राण चालक है।

हे सोम्य जैसे मधु मक्खियां भिन्न भिन्न रसों को लाकर मधु बनाती हैं। उस एक बने हुए मधु स्वरूप में उन रसों को वर्गीकरण नहीं किया जा सकता विभाजित नहीं होता, भिन्न भिन्न नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ये समस्त प्राणी सत् में पहुँचकर शरीर से मुक्त होकर अपने स्वरूप को नहीं जानते। वे पुनः इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, पतंग या मशक जो जो होते हैं, प्रकट हो जाते हैं।

हे श्वेतकेतु वह यह भिन्न भिन्न शरीर भेदों में व्यक्त होने वाला अणु अल्पज्ञ चेतन ही सत् है तेरा शरीर तत्व वस्तु नहीं।

हे सोम्य! मृत्यु से पूर्व बन्धु बान्धव घेर लेते हैं और पूछते हैं मुझे पहचानते हो। जब तक उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परम देवता में लीन नहीं होता तब तक वह पहचानता है। जब उसकी वाणी में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज उस परम देवता में लीन हो जाता है। तब अरे! वह किसी को नहीं पहचानता। वही अणु, सूक्ष्म तत्व है, वह ही सत् आत्मा है, यह शरीर तत्व वस्तु नहीं।

हे सोम्य! यह जीवात्मा जब शरीर रूपी वृक्ष की एक शाखा को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है। दूसरी शाखा को छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है तो तीसरी शाखा भी सूख जाती है सबको छोड़ देता है तब सम्पूर्ण वृक्ष ही सूख जाता है इसी प्रकार जब जीव शरीर से पृथक हो जाता है, तब यह शरीर शव बन जाता है। उस जीव का नाश अथवा विलय नहीं होता।

वह ही आत्मा सत् है, तत्व वस्तु है। शरीर तत्व वस्तु नहीं।

९ आत्म संज्ञा

प्रजापति का इन्द्र व विरेचन को आत्म उपदेश

पुष्प 9 दैत्यों के राजा विरेचन तथा देवताओं के राजा इन्द्र प्रजापति के पास महान शरीर में विराजमान महान् तत्व की जानकारी करने गए। उनको प्रजापति ने कहा कि वह स्वरुपतः पाप रहित, जरा रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, बुभुक्षा रहित, पिपासा रहित, सत्त्व कामना वाला सत्य संकल्पमय आत्मा है।

वह आत्मा जागृत अवस्था में नेत्रों में निवास करता है। उसका स्वरूप बन करके नेत्रों का कार्य बन जाता है क्योंकि वे नेत्र तब तक दृष्टिपात कर सकते हैं, जब तक आत्मा शरीर में है। जो मानव आत्मा का दिग्दर्शन करना चाहता है, वह सूर्य की किरणों से जलों में दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब का दिग्दर्शन करे। उससे नेत्रों की ज्योति में दोनों ज्योति प्रादुर्भाव हो करके ज्योतिष्मान को प्राप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानव शरीर में वह आत्मा झरोखों में से भीतर झांक रहा है। यह मानव शरीर ही आत्मा का तत्व है। इसी की जानकारी कर लो।

उन दोनों में विरेचन तो सन्तुष्ट होकर असुर समाज में पहुँचकर यह ही उपदेश करने लगा कि यह मानव शरीर ही आत्मा, तत्त्व वस्तु है। इसी को ऊंचा बनाना, पालन पोषण करना, हमारा उद्देश्य होना चाहिए। बेटा! दैत्य कौन होता है जिनको न दान में, न कर्म में, न योग में प्रवृत्ति और आत्मा में निष्ठा आस्था नहीं होती है, वे इस शरीर को ही आत्मा स्वीकार कर लेते है। इसीलिए दैत्य प्रकृति के मानव से लोक ओत प्रोत है।

इन्द्र ने सोचा कि यह शरीर तो अन्धा व अंग भंग होने पर भी अथवा नष्ट भी हो जाता है। वह मानव शरीर को अजर, अमर, अभय किस प्रकार स्वीकार किया जावे। वह इन्द्र पुनः प्रजापति के पास गया और अपनी शंका का समाधान करने लगा।

प्रजापति ने उसको बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य सहित तपस्या करने के पश्चात् बताया कि वह जो स्वप्न में महिमाशाली होकर विचरता है, वह दृष्टा आत्मा है, अजर, अमर है, अभय है।

इन्द्र ने इस उपदेश को सुनकर विचारा कि स्वप्न का दृष्टा, अजर, अमर, अभय कैसे स्वीकार किया जावे क्योंकि उस समय तो कहीं अधिराज बन जाता है, कहीं निर्धन बन जाता है, कहीं चोर आदि प्रतीत होते हैं, भय से कम्पायमान होकर रोता हुआ सा होता है।

स्वप्नावस्था में आत्मा का स्वरूप मन के क्षेत्र में उसका सम्बन्ध चित्त से रहता है, इसलिए जो जन्म जन्मान्तरों के संस्कार हैं, यह उनको आत्मा के समीप लाता रहता है। कहीं मन मग्न हो जाता है, कहीं जलाशयों के तट पर विचरण करता है इत्यादि। इन्द्र ने सोचा कि वह दृष्टा आत्मा नहीं, इसमें मुझे कोई कल्याण नहीं दीखता। वह पुनः प्रजापति के पास आया और अपनी शंका को प्रजापति से समाधान करने लगा।

प्रजापति ने इस शंका को सुनकर पुनः बत्तीस वर्ष तप, श्रद्धा व ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने का आदेश दिया। उसके पश्चात् बताया कि यह जो गाढ़ निद्रा है, स्वप्न भी नहीं दीखता वह ही आत्मा अमृत है, अभय है। इन्द्र ने विचारा कि इस गाढ़ निद्रा में तो दृष्टा अपने को ही नहीं जानता, शरीर शून्य दशा में होता है।

वह इन्द्र पुनः प्रजापति के पास आकर कहने लगा कि हे भगवन्! यह सुषुप्ति अवस्था में जो दृष्टा विनाश को प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है। वह चेतन आत्मा किस प्रकार स्वीकार किया जावे।

सुषुप्त अवस्था में आत्मा प्राण के साथ रहता है क्योंकि प्राण बिना यह आत्मा संसार में कोई कार्य नहीं कर सकता। सुषुप्ति अवस्था में कौन सोता है? कौन जागता है? वास्तव में उस समय वह आत्मा व प्राण ही जागते हैं और समस्त भूत उन्हीं के आश्रय में सो जाते हैं, जैसे पक्षी बसेरे में सो जाते हैं, जिस प्रकार सायंकाल में सूर्य की किरणों उस गोलाकार में समेटकर हो जाती हैं। वह प्राण ही छायावत् आत्मा पुरुष के साथ रहता है।

प्रजापति ने पुनः पांच वर्षों तक तप, श्रद्धा व ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने का आदेश दिया और उसके पश्चात् उसे बताया कि हे इन्द्र! यह आत्मा किसी काल में नष्ट नहीं होता। वह अजर है, अमर है, अभय है, नित्य है। मानव का शरीर ही क्षणभंगुर है, किन्तु मानव इसी से स्नेह करता है। शरीर सम्पर्क से पृथक् हो जाने पर सुख दुःख छू नहीं सकते। जब प्राण भी आत्मा के साथ नहीं रहते। वह ही आत्मा का स्वरूप, केवल्य, तुरीय संज्ञा है। वह अद्वितीय है, अनिर्वचनीय है। वह केवल एक आत्मा है, जो अनुभव का विषय है।

१० भेद भेद में जीव संज्ञा

पुष्प 2, 14 मुनिवरो! जब यह आत्मा इस शरीर को त्यागता है, उस काल में जो भावनाएं, जो भी कर्म अन्तःकरण में अंकित हो गए हैं, उनको भोगने की आत्मा इच्छा करती है। वह ही चित्रावली उसके समीप रहती है, उसी के अनुकूल वह आत्मा उन्हीं विचारों वाली आत्माओं में बेटा! अन्तरिक्ष मे रमण किया करता है। जब मानव इस शरीर को त्यागता है तो तीन प्रकार की श्रेणियां होती हैं सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी, ये तीन प्रकार की श्रेणियां होती हैं। इन तीनों प्रकार की श्रेणियों मे लगभग ऐसा कहा गया है कि एक सौ दो श्रेणियां तो सतोगुण की होती हैं, एक सौ तीन रजोगुण की और एक सौ बावन श्रेणियां तमोगुण की होती हैं। जैसी जैसी श्रेणी में वह जाता है उसी के अनुसार उसे जीवन प्राप्त हो जाता है।

मेरे प्यारे महानन्द जी कहा करते हैं कि शरीर को त्यागकर यह आत्मा यमपुरी चला जाता है, परन्तु हमारे यहाँ यम नाम वायु का है, जिसमें आत्मा रमण किया करता है, जिसको हमारे यहाँ यमराज कहते हैं। उस समय उस आत्मा का व वायु का, दोनों का मन्थन (परीक्षण) होता है उसके पश्चात् यदि आत्मा के साथ सात्त्विक गुण अधिक हैं तो वह सोमतिति वायु में चला जाता है। सोमतिति वायु में इसकी गति और विशाल बन जाती है और यदि देववत् कर्म होते हैं, तो देववत् कर्म के आधार पर देवत्व आत्माओं में रमण करने लगता है। जितना उसका देवत्व कर्म होता है, उतना आनन्द में रमण करके पुनः संसार में जन्म लेता है।

मुनिवरो! अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि सौ सौ वर्ष तक आत्माएं बिना शरीर के अन्तरिक्ष मे निठल्ली रहती हैं। इसका उत्तर यह है कि यह आत्मा निठल्ला किसी काल में नहीं रहता क्योंकि कर्म उसका स्वाभाविक गुण उसके साथ है। जो रजोगुण व तमोगुणी आत्माएं होती हैं, उनका मिलान उन जैसी आत्माओं से हो जाता है और वे उनके साथ रमण करती रहती हैं, और पूर्व जन्म की स्मृति को उस वायुमण्डल में त्यागकर संसार में जन्म ले लेती हैं। अब जो सतोगुणी आत्माएं हैं वे एक इन्द्र नाम की वायु होती है, एक मृचोः नाम की वायु होती है और एक सोमतिति नाम की वायु होती है, इनमें से वह रमण करता हुआ, उन पर वह आत्मा शासन करता हुआ विमुक्त आत्माओं में तेजस् स्वरूप में विमुक्त आत्माओं से विनोद करता रहता है, आनन्द भोगता रहता है और पुनः जो अनिष्ट कर्म किया था उसको भोगने के लिए संसार में जन्म को प्राप्त हो जाता है क्योंकि अन्त में उनके विचार संसार में आने के लिए होते हैं। अब कुछ आत्माएं ऐसी भी होती हैं, जिन्होंने तमोगुण व रजोगुण विशेष से शरीर त्याग दिया है, वे तेरह दिवस अन्तरिक्ष में रमण करके उन्हें जन्म लेना अनिवार्य हो जाता है और कुछ सतोगुण वाली आत्माएं एक मास भी अन्तरिक्ष में रमण करके संसार में जन्म धारण करती हैं।

अब यह नियम सभी आत्माओं के साथ लागू नहीं होता क्योंकि कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि जो अत्यन्त तमोगुणी आत्माएं हैं वे तो शरीर के त्यागते ही स्वतः जन्म धारण कर लेते हैं जिस प्रकार एक सूंडी एक तिनके से दूसरे तिनके तक पहुँचने के लिए दो पैर आगे और दो पैर पीछे रखती है और क्षण भर में दूसरे तिनके पर पहुँच जाती है। उनके बहुत काल के ऐसे तुच्छ कर्म होते हैं, इस महान् जीवात्मा के साथ कि क्षण भर में जीवन है और क्षण भर में मरण हो जाता है। पुनरावृत्ति क्षण क्षण में होती रहती है, कुछ ऐसे होते हैं, जो एक वर्ष में छत्तीस समय जन्म लेते हैं और छत्तीस समय मृत्यु को प्राप्त होते हैं । प्रकृति के आवेशों में रहने के यह परिणाम हैं।

तत्त्व दर्शन

पुष्प 5 मुनिवरो! मेरे प्यारे महानन्द जी एक लोक कथा का वर्णन करते हैं, जिसे मैं बारम्बार उच्चारण किया करता हूँ। यह वाक्य मुझे बड़ा ही सुन्दर लगा करता है। वह कहा करते हैं कि टटेरी समुद्र तट पर रहा करती थी। एक समय समुद्र के जल ने उस टटेरी के दो पुत्रों (अण्डों) को अपने में धारण कर लिया। टटेरी ने सोचा कि इस महान् पापी ने मेरे दोनों पुत्रों को अपने में धारण कर लिया है, अब मुझे इसे शान्त कर देना है। वह उसे शान्त करने के लिए पृथ्वी के कणों को उसमें स्थापित करने लगी। इतने में अगस्त्य मुनि वहां आ पहुँचे और टटेरी से पूछा कि अरे! तू क्या कर रही है। मैं अभी इस समुद्र को पान किए लेता हूँ। कहते हैं अगस्त्य मुनि ने तीन आचमन किए और अपने उन तीन आचमनों में समुद्र को शोषण कर लिया और अपने उपस्थ इन्द्रियों द्वारा समुद्र को खारी बना करके त्याग दिया और टटेरी के उन दोनो पुत्रों की रक्षा हुई।

मुनिवरो! वाक्य तो बड़ा सुन्दर परन्तु तार्किक व दार्शनिक हैं महानन्द जी तो इसकी रूप रेखा इसी प्रकार कर लेते हैं, परन्तु अगस्त्य मुनि के दर्शन करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अब इसकी रूपरेखा हमारी ही नहीं, महर्षि लोमश तथा अन्य आचार्यों की भी है और वह इस प्रकार है। टटेरी नाम आत्मा का है और उस आत्मा के मन बुद्धि दो पुत्र हैं। और यह संसार रूपी सागर है, इसमें मन और बुद्धि दोनों भ्रमित हो जाते हैं। उस समय आत्मा

को कुछ विचार आता है और वह अपने ज्ञान रूपी कणों को इस महान् भवसागर को शांत करने लगती है। मुनिवरो! आगे इसे विवेक, उत्पन्न होता है। हमारे आचार्यों ने देखो ''विवेक'' को ही अगस्त्य कहा है। अब अगस्त्य रूपी विवेक का जन्म हुआ तो अगस्त्य बोले कि अरे, यह तुम क्या कर रहे हो। उत्तर मिला कि महाराज! इस सागर ने मेरे दोनों पुत्रों को भ्रमित कर लिया है तो उस समय अगस्त्य रूपी विवेक संसार रूपी सागर का शोषण कर जाता हैं।

मुनिवरो! यह संसार वह है, जिसमें मन और बुद्धि दोनों भ्रमित हो जाते हैं और भ्रमित होकर मनुष्य इस संसार के विषयों में डुबकियां लगाता रहता है। यह संसार वह है जहाँ एक दूसरे के विचारों को नष्ट किया जाता है। एक दूसरे को नष्ट करने की भावनाएं बनी रहती हैं, जिसके फलस्वरूप जन्म जन्मान्तरों के महान् चक्र में रमण करता रहा है, किसी काल में छुटकारा नहीं मिलता।

मुनिवरों! हमारे आचार्यों ने कल्पना की है कि टटेरी नाम आत्मा का है, मन और बुद्धि दोनों उसके पुत्र हैं, विवेक नाम अगस्त्य का है और तीन प्रकार के आचमन मुनिवरो! देखो वेद की विद्या ज्ञान, कर्म और उपासना है। इनकी त्रिभि सन्धि का पान करने वाला इस संसार रूपी सागर को खारी जानकर त्याग देता है जैसे मनुष्य मधु का पान करता है परन्तु कषैला व खारी आने पर उसे त्याग दिया जाता है, तो संसार रूपी सागर को खारी समझकर त्याग दिया जाता है।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेटकर रखता है, कमल जैसे जल में रहता है। कहीं यह संसार तुम को छू न ले। सुवर्णमय पात्र से आत्मा का मुख ढका हुआ है। आत्मा रूपी रतन भौतिक पदार्थों की कोचसा लथपथ पड़ा हैं विवेकी व तत्त्वदर्शियों ने उसे निकाल ही लिया है। संसार क्या है?

भृगवारिणी विद्या

हरेक भाग अन्न है, भोग्ता अन्नाद है। जल अन्न है, अग्नि अन्नाद है। जल के भीतर विद्युत छिपी रहती है। अतः जल भोग्ता है, अग्नि भोग है। ऊँची दृष्टि से वे सब लोग भोग ही हैं, जो भोग्ता प्रतीत होने लगते हैं। असली भोग्ता जो वह 'ब्रह्म' ही है।

पृथ्वी अन्न है, भोग है। आकाश भोग्ता है। पृथ्वी आकश के सहारे और आकाश पृथ्वी के सहारे टिके हुए हैं, परन्तु असल में दोनों भोग ही हैं। भोग, भोग के सहारे टिका हुआ है, जो भोग्ता प्रतीत होने लगता है। असली भोग्ता तो वह ब्रह्म ही है।

हरेक भोग अन्न है, भोग्ता अन्नाद है। प्राणमय कोष को भोग कहा जा सकता है। शरीर को भोगता क्योंकि यह शरीर प्राण को भोग रहा है, प्राण क्षीण हो रहे हैं लेकिन दूसरी जगह शरीर भोग है और प्राण भोग्ता प्रतीत होते हैं, अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है भोग भोग के सहारे टिका हुआ है। मनोमय का भोग अन्न कहा जा सकता है प्राण को भोग्ता, किन्तु वे भी एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। मनोमय के सहारे प्राण और प्राण के सहारे मनोमय ठहरे हुए हैं। भोग भोग में प्रतिष्ठित है वे दोनों भोग ही हैं जो भोग्ता प्रतीत होने लगते है। असली भोग्ता तो ब्रह्म ही है।

विज्ञान (बुद्धि) भोग है और मन भोग्ता, दूसरी जगह 'मन' भोग है और बुद्धि भोग्ता है। एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं। असल में दोनों भोग ही हैं जो भोग्ता प्रतीत होने लगते हैं। भोग जड़ होता है। असल भोग्ता वह चेतन आत्मा ही है।

पुरुष में जो है, आदित्य में जो है वह एक सत्य आत्मा है। जो यह जानता है, वह मर कर अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों के भोग के ऊपर उठकर कामना के लोकों में निष्काम होकर विचरता है और सामगान करने लगता है। अहो! मैं अब तक अन्न था। भोग ही बना हुआ था। मैं अब अपने यथार्थ स्वरूप को समझ गया। मैं भोग्ता हूँ भोग्ता। मैं ब्रह्मा की सबसे प्रथम अनुभूति हूँ। मैं इन्द्रियों से पूर्व हूँ, अमृत की नाभि हूँ, अमृत स्वरूप हूँ। मैं अब तक अपने लिए अन्न ही माने रहा, भोग ही बना रहा। परन्तु अब मैं इतना अपने स्वरूप में आ गया हूँ कि भोग्ता को भी खा जाऊं। मैं संसार के विषयों में इतना उलझ गया कि उनसे ही भोगा जाने लगा। अब मैं निष्काम होकर कामना के लोकों में स्वछन्द विहार करूंगा। तैत्तरीयोपनिषद्॥

संसार में कौन सुखी है? धनपति धन से संसार के प्रत्येक पदार्थ खरीद सकता है, किन्तु भूख मोल नहीं ले सकता। उनको धन में सुख कहाँ। धन उपार्जन में बड़े बड़े कष्ट उठाने होते हैं, नाना प्राणियों को दुःख देकर धन संचय किया जाता है, फिर उसके संरक्षण में प्राणों का भय रहता है। उसके नाश हो जाने पर संतापित होता है।

परिवार एक एक करके साथ छोड़ जाते हैं। भोज्य पदार्थ खाने में स्वादिष्ट लगते हैं। वह स्वाद मन की एकाग्रता में है। मिष्ठान खाते समय मन एकाग्र है, स्वाद प्राप्त हो रहा है और उस समय यदि कोई शोक समाचार मिल जाता है तो सारे पदार्थ व्यर्थ दृष्टिपात होने लगते हैं। मानव की झूठी कल्पना है कि स्वाद बाहर से आ रहा है। अरे! स्वाद तो मन की एकाग्रता में है। मानव का सुख तो भीतर

विद्यमान है। सुख तो मन के प्रशांत अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है जिस प्रकार धेनु प्रशान्त अवस्था में बछड़े को दूध अर्पण कर देती है, इसी प्रकार वह आत्मा सुख प्रशान्त अवस्था में प्राप्त हो जाता है।

वाक्य उच्चारण करने का अभिप्राय यह है कि उस सुख का स्रोत भीतर आत्मा में विद्यमान है। उस अन्तरात्मा को जानना हमारे लिए बहुत अनिवार्य है। हम आत्मा के सम्बन्ध में विचार विनिमय करने वाले बनें। उसी को जानने से ही हमारा कल्याण होगा।

११ योग साधना

द्वितीय भाग

योग ही मानव का चरम लक्ष्य है

मुनिवरों! आज मानव प्रायः यह कहता चला जा रहा है कि योग विधाता की एक अनुपम देन है, जिसको पाकर मानव कहीं का कहीं पहुँच जाता है। वह परमात्मा की सृष्टि को जानने वाला बन जाता है। भूत, भविष्य, वर्तमान काल की वार्ताओं को जानता है। जब यह आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है तो सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी न होने के तुल्य माना जाता है। वहां सूर्य के प्रकाश की महत्ता समाप्त हो जाती है। शनैः शनैः वह योग में पारंगत स्थिति को प्राप्त होकर, जो मानव का अन्तिम ध्येय है अर्थात् जब कुण्डलनी मूलाधार में रमण करता है तो योगियों का ऐसा मत है, महर्षि लोमश का ऐसा अनुभव है, अन्य भी ऋषियां का वचन है कि वह महान् आत्मा निर्लेप होकर परम पद को प्राप्त होता है।

पुष्प 8 बेटा! जब देखो, कुण्डलनी में रमण करता है तो आत्मा की रूप रेखा बहुत सूक्ष्म हो जाती है। उस समय इन्द्रियों का मन से और मन का बुद्धि से ऐसे मिलन हो जाता है, जिस प्रकार सायंकाल के सूर्य में समस्त किरणें ओत प्रोत हो जाती हैं और वह मल विक्षेप व आवरण का जो अन्धकार है, वह समाप्त हो जाता है । ऋतम्भरा बुद्धि प्राप्त होकर पिछली सब संज्ञा उस आत्मा में रमण कर जाती हैं और आत्मा का सम्बन्ध उस परमपिता परमात्मा से हो जाता हैं उसी को बेटा! हमारे यहाँ विस्तार वाला विज्ञान कहते हैं, जब योगीजन प्रकृति पर शासन कर लेते हैं जिसमें शून्यता है, तो वह जानता है कि मैं कौन सी गति पर चला गया हूँ।

१२ योग में अनुसंधान

आधुनिक काल में योग के नाम से अनेक प्रणालियां और पद्धतियां प्रचलित हैं। नाना द्वार खुले हुए हैं। वे सब भ्रान्ति स्थिति के बहुधा प्रयोग हैं। योग तो अत्यन्त शान्ति स्थिति की देन है। विधाता की वह अमूल्य देन उस काल में प्राप्त होती है, जब हमारे हृदय में अगाध श्रद्धा व सत्य संकल्प होते हैं। उस प्रभु का स्मरण होने लगता हे। श्रद्धा का उदय कब होता है, जब आत्म अनात्म विवेक उत्पन्न होने लगता है।

मुनिवरो! आज हमें विचारना है कि विधाता की उस अमूल्य निधि को कैसे पाएं। बेटा! उस अमूल्य निधि को पाने के लिए हमें इस प्रकृति पर शासन करना होगा और यह तब हो सकता है जब हम सब वृत्तियों पर शासन कर लें। यदि वृत्तियों पर शासन नहीं करते, अपने जीवन को विवेक व ज्ञान में परिणत नहीं कर पाते तो हम योग मार्ग को सिद्ध कदापि नहीं कर सकेंगे। वह योग केवल शब्दों में नहीं, परन्तु जब हम क्रिया में लाते हैं जानने का प्रयास करते हैं तो हमारे जन्म जन्मान्तर समाप्त हो जाते हैं।

उस परमात्मा की अमूल्य निधि के ग्रहण करने के लिए प्रथम हमारे द्वारा श्रद्धा होनी चाहिए। जब तक श्रद्धा व आस्तिक भाव नहीं होंगे, योग विद्या को क्रिया में कदापि नहीं ला सकते। उसके लिए अन्तःकरण पवित्र होना चाहिए, संसार के विषयों से उपराम होना चाहिए। यह कब सम्भव होगा, जब हम तपस्या में परिणित होंगे। जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों को मल विक्षेप को, अन्तःकरण को उज्ज्वल बनाने के लिए तपस्या के संस्कार ही संभेदन करने में समर्थ हैं। तपस्या में परिणित होना अनिवार्य है। हम अपने जीवन को, तपस्वी बनाते चले जाएं।

वेद कहता है कि मानव को तपना चाहिए। समुद्र में जल तपता है तो सुन्दर वृष्टि होती है। सूर्य चन्द्र सभी तपते हैं। आपः तपता है तो प्राण अपनी सुन्दर गति से रमण करते हैं। जब मानव तपस्या में परिणित हो जाता है तो उसके जीवन में उद्बुद्धता आ जाती है। वह उद्गीत गाता है तथा यज्ञशाला में उद्गाता और अध्वर्यु बनता है। माता तप कर प्रिय बालक को जन्म देती है।

पुष्प 29 एक समय महाराजा अश्वपति अपने आसन पर विराजमान थे। न्यायालय में न्याय हो रहा था। परन्तु न्यायकर्त्ता महाराजा अश्वपति की वाणी में अमोघता दृष्टिपात नहीं हुई। यह विचारा कि मैं न्याय कर रहा हूँ, परन्तु जो न्याय की आभा है दृष्टिपात नहीं हो रही है। राजा ने विचारा कि अब मैं क्या करूं? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र पापी होता चला जावेगा। इस राष्ट्र में सुन्दरता नहीं रहेगी। हे

मन्त्री, मेरी आत्मा यह पुकार रही है कि जब मैं न्याय करता हूँ तो न्याय की सुगन्धि उत्पन्न नहीं होती। उन्होंने कहा कि इसमें तप की सूक्ष्मता है। राजाने अपनी स्थली को त्याग दिया, पत्नी को त्याग दिया और तप करने चले गए। हिमालय की कन्दराओं में ऋषि मुनियों से मिलान करते हुए एक स्थान में विराजमान हो गए, गायत्री छन्दों का गान करने लगे, मौन हो गए। अपनी आत्मा का शोधन करने लगे। ऋषि मुनियों की आज्ञानुसार भयंकर वनों की वनस्पतियों को पान करके उदरपूर्ति करते थे। वह छः वर्ष तक मौन रहे, दो वर्ष तक गायत्री छन्दों का पठन पाठन किया, ब्रह्मचर्य का पालन किया। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य क्या कि 'ब्रह्म' में रत रहना, ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्म की आभा को चरना। इस प्रकार 12 वर्ष तक उन्होंने कठोर तप किया और उस तप के प्रभाव से वाणी में अमोघता आ गई। उन्होंने अब विचारा कि अब मेरा तप नितान्त पूर्ण बन गया हैं

उन्होंने इस प्रकार कठोर तप करने के पश्चात् अपनी नगरी को प्रस्थान किया। जब वे न्याय करने लगे तो न्याय की सुगन्धि उत्पन्न होने लगी। तो विचार विनिमय किया कि मानव को तप में रमण करना है। तप कहते हैं इन्द्रियों का शोधन करना। इन्द्रियों के विषय को 'ब्रह्म' के आंगन में रमण कराना। जब रमण कर जाते हैं तो सुगन्धि हो जाती है। मानव का जीवन आभा में परिपूर्ण हो जाता है।

जो मानव यौगिक साधना में जाकर साधक बनना चाहता है, उसको चाहिए कि वह मन को संयम में लाए। मन को संयम तथा उपरामता में जाने के लिए श्वांस श्वांस में उस परमपिता का स्मरण हो।

१३ यम प्रभु दर्शन

प्रथम सोपान अहिंसा परमो धर्मः

मुझे स्मरण आ रहा है कि पुरातन काल में हिंसक प्राणियों के आंगन में भी जाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। हिंसक प्राणी जो मानव का भक्षण कर जाते हैं, परन्तु जो यौगिक आत्मा होती है, उसकी दृष्टि में हिंसा और अहिंसा कुछ नहीं रहती। वह तो सदैव आनन्द के मार्ग में लालायित रहता है। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव कहा करते थे कि बेटा! योग सबसे प्रथम अहिंसा से ही प्रारम्भ होता है। अहिंसा के ऊपर जब अनुशासन हो जाता है, वशीकार हो जाता है तो मुनिवरो! उसकी दृष्टि में कोई हिंसक प्राणी नहीं रहता। महर्षि पातंजलि ने सबसे प्रथम शब्दों में अहिंसा की घोषणा की है क्योंकि दूसरों को पीड़ा देने से अपना चित्त मलीन रहता है। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव कहा करते थे कि बेटा! योग सबसे प्रथम अहिंसा से ही प्रारम्भ होता है। अहिंसा के ऊपर जब अनुशासन हो जाता है, वशीकार हो जाता है तो मुनिवरो! उसकी दृष्टि में कोई हिंसक प्राणी नहीं रहता। महर्षि पातंजलि ने सबसे प्रथम शब्दों में अहिंसा की घोषणा की है क्योंकि दूसरों को पीड़ा देने से अपना चित्त मलीन रहता है और दुखी प्राणी दिन रात सोच किया करता है। स्वाद की लोलुपता में, खाल बेचकर धन का लोभ, काम तृप्ति के लिए, आत्मा सुख के लिए, पराये धन व सम्पत्ति के लालच में किसी का प्राण वध करना अथवा कराना व शारीरिक कष्ट पहुंचाना महान् निकृष्ट कर्म हैं जो मनुष्य स्वयं जीना चाहता है, वह दूसरों को कैसे मार सकता है।

किसी दूसरे को कठोर वचन अथवा अपशब्द न बोलना वाचक अहिंसा है। वाणी का घाव गहरा होता है, जिसका भरना अति कठिन हो जाता है। वह जीवन भर दुख दिया करता है। उससे पीड़ित जन दिन रात सोच किया करते है, क्योंकि वे दूसरों के मर्मस्थली में घुस जाते हैं। कुठार से कटा बन उग आता है पर वाणी का घाव नहीं भरता।

'मन' में दूसरों के प्रति बुरा चिन्तन न करना, द्रोह न रखना, अनिष्ट विचार व योजनायें न बनाना मानसिक अहिंसा होती है।

द्वेष

मृत्यु क्या है? मृत्यु वह है जो दूसरों को कष्ट देता है। आज जो यह द्वेष है, उसका नाम मृत्यु है। यह जो काम, क्रोध, लोभ, मोह है, इनमें जो फंस जाता है उसका नाम मृत्यु है जो अभिमान मे चला जाता है उसका नाम मृत्यु है। मृत्यु क्या है? जो दूसरों का भक्षण कर जाते हैं, दूसरों के द्रव्य प्राप्त करने के लिए अन्यायपूर्वक लालसा में बने रहते हैं। यह ही मानव की वास्तविक मृत्यु है।

पुष्प 20 आज मैं इस वाक्य को और भी बेटा! पुनरुक्ति द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। एक मानव दूसरे मानव के प्रति अनिष्ट विचार बना लेता है, तो वे अनिष्ट विचार दूसरों के प्रति कदापि नहीं बनते। उसकी जो भावना होती है, उसका जो अन्तःकरण होता है, उसको वह स्वयं शनै शनैः निगलता रहता है वेद का आचार्य कहता है कि वह जो दूसरों के प्रति द्वेष रखता है, वह दूसरों के प्रति कोई द्वेष नहीं। द्वेष स्वयं अपने लिए किया जाता है क्योंकि द्वेष की मात्रा उस मानव की स्मरण शक्ति तथा सुकृत को हनन कर देती है। बेटा! महात्मा विदुर ने एक समय धृतराष्ट्र से कहा था कि प्रभो! आपके और पाण्डु पुत्रों ने जो विचार बनाये हैं, वे विचार बड़े अनिष्ट हैं। इसलिए वे उन्हीं के प्रति अनिष्ट हैं। अनिष्ट विचारों का अभिप्रायः यह कि मेरे ही कुल का विनाश हो जाएगा।

घृणा

पुष्प 11 दुराचारी मनुष्यों से शांत रह करके उनका मन ही मन विचार करो। मानो मन ही मन में उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है। वास्तव में ऋषि मुनियों ने तो यही कहा है कि घृणा से भी मानो संस्कारों का जन्म होता है। यदि घृणा करना है तो आत्मा से नहीं परन्तु उन शब्दों से करो जो दूसरों को कष्ट देते हैं क्योंकि उन शब्दों की जो घृणा है वह संस्कारों को जन्म नहीं देती और जो मन का चिन्तन घृणा का है, वह संस्कारों से मानव को जन्म जन्मान्तरों में ले जाती है।

जब माता गार्गी राजा जनक की सभा में पहुँची, वह महान् सभा थी। और वह नग्न रहती थीं। उस समय गार्गी से राजा जनक ने कहा कि हे गार्गी! तुम मेरी सभा में नग्न चली आ रही हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती। उस समय गार्गी ने कहा कि हे राजन्! तुम ब्रह्म ज्ञान में परिणित होना चाहते हो और एक देवकन्या को नग्न दृष्टिपात नहीं कर सकते। राजा जनक मौन हो गए। राजा जनक की घृणा शब्दों में थी और उसका उत्तर भी शब्दों में मिला।

पुष्प 14 मानव के मस्तिष्क में उन कामनाओं के व नाना कारणों के द्वारा जो अमूल्य तन्तु हैं, उनमें बहुत से ऐसे तन्तु होते हैं जो किसी काल में जागरूक हो ही नहीं पाते और किन किन कारणों से जागरूक नहीं होते, जिन प्राणियों के द्वारा यौगिकता नहीं होती, जिनके द्वारा घृणा के क्षेत्र बने रहते हैं। आचार्यों का कहना है कि सबसे महान् पाप वह मानव करता है जो घृणा का जो माध्यम है वह उसकी बुद्धि को नष्ट करता है, क्योंकि मानव के द्वारा जो महान् प्रकाश के तन्तु होते हैं, जो अमृत हैं, वे भस्म हो जाते हैं और भस्म हो जाने के कारण उनका विकास नहीं हो पाता। विकास उस काल में होता है जब ब्रह्मचर्य उसके द्वारा होता है। ब्रह्मचर्य की गति के द्वारा जब व्यान प्राण, समान प्राण और मन, इनका तारतम्य होकर, मस्तिष्क और हृदय का मिलान होकर उस मानव का योग में यातायात स्पष्ट हो जाता है। आज मानव मस्तिष्क व हृदय का मिलान करना चाहता है तो सबसे अनिवार्य अभ्यास बेटा! घृणा को त्यागना है। द्वितीय कामवासनाओं को त्यागना है और ब्रह्मचर्य को धारण करना है। अभिमान को त्यागना है, मान अपमान को त्यागना है। जो इनको त्याग देता है, उसके मस्तिष्क व हृदय में विशालता आ जाती है।

बेटा! मानव के द्वारा आत्म आदेश प्राप्त होते रहते हैं। जब मानव तुच्छ कर्म करने के लिए चलता है, उस समय मानव को आत्मा से संकेत मिलता है कि अरे मानव! यह कुमार्ग है, इस पर न जा। परन्तु संसार में हम ऐसे आसक्त रहते हैं कि उनकी लोलुपता में दूसरों को कष्ट देने में किंचित भी संकोच नहीं करते। वह ही कर्म हमारे अन्तःकरण में नियुक्त हो जाते हैं और वह हमें भोगना अनिवार्य हो जाता है।

पापी जन अत्याचार कर रहे हों, बेचारे गरीबों की सम्पत्ति, धन का अपहरण किया जा रहा हो, डाकू सम्पत्ति लूट रहे हों, माताओं का श्रृंगार नष्ट किया जा रहा हो, पितर, पुत्रों से दुखी हों, पति पत्नी में कलह हो और हम देखते रहें यह समाज के लिए कलंक है। उस जगह अन्तरात्मा धिक्कारने लगती है कि अरे मानव! कायर न बन और दुखित जनों की सेवा करो। जो आत्म ध्वनि की अवहेलना करते हैं, वे ऐसे चोर हैं जो सब कुछ चुरा लेते हैं। यह आध्यात्मिक हिंसा वह है जिससे हम ऐसे लोकों को प्राप्त होते हैं जहाँ ज्ञान का एक अंकुर भी प्राप्त नहीं होता।

हे वीर! राक्षसों का संहार कर। हिंसकों को कुचल डाल। दुष्ट जनों की दाढ़ें तोड़ दे। भगवान राम, कृष्ण का आदर्श जीवन, आध्यात्मिक अहिंसा व्रत अनुष्ठान में अद्वितीय माना गया है।

सत्य

अहिंसा के बाद सत्य की घोषणा की है। सत्य किसे कहते हैं। बेटा! उसको विचारना है। ऋषियों ने तो कहा है, सत्य को उच्चारण करने वाले पुरुषों ने कहा है कि ''सत्य ही ब्रह्म'' है! अहिंसा के बाद स्वतः सत्य हो जाता है। क्यों होता है क्योंकि सत्य वह है जिसमें निस्वार्थता हो, अभिमान न हो। सत्य वह है जो सत्य का वाचक हो, विचारक हो। सत्य वह है जिसमें विकल्प न हो, ममत्व न हो। जो आत्म भाव में रम रहा है।

''जो सम्पूर्ण प्राणियों को स्वयं में ही दृष्टिपात करता है, और अन्य आत्माओं को परमात्मा की वस्तु स्वीकार करता है, वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता, कभी भी किसी से मोह नहीं करता। उस आत्मा में निष्ठावान के लिए संसार तुच्छ बन जाता है और अन्तःकरण उज्ज्वल बन जाता है, विक्षेप वृत्तियों का विच्छेद होने से मन रूपी दर्पण प्रशान्त रहता है। इस अवान्तर आत्मा के लिए ही अहंभाव, ममत्वभाव, सत्य संकल्प बने रहते हैं। अहिंसा परमोधर्मा की सिद्धि हो जाती है।

जिस समय अनुष्ठान से सब प्राणियों का उपकार हो और जिससे किसी प्राणी की हानि न हो, उसे कोई पीड़ा न हो, उसका प्राणवध न हो उसको सत्यव्रत जानो! जिस सत्य भाषण से प्रभु की महिमा का विस्तार हो, आत्म ग्लानि न हो, सत्य धर्म की रक्षा हो, अपराधों का दमन हो, अनृत का नाश हो हिंसा वृत्तियों का व्यवहार न हो, किसी को संकट में डालने वाला न हो, वह ही सत्य है, सत्य ही 'ब्रह्म' है।

उस सत्यव्रत के अनुष्ठान में तपते रहना चाहिए और स्थिर बने रहना चाहिए। उस व्रत के अनुष्ठान से परनिन्दा, चुगली, भय, वैर, कपट, अभिमान, ईर्ष्या, घृणा जो आत्मा के लिए मन रूपी दर्पण में मल, विक्षेप, आवरण दोष हैं वे शान्त रहते हैं।

अस्तेय

तो बेटा! मानव के जीवन में तृतीय व्रत अनुष्ठान अस्तेय आता है। हम मन, वचन, कर्म से एकतुल्य रहें। मेरे प्यारे! हम स्वप्न में भी किसी प्रकार की अशुद्ध कल्पना न करें।

अन्यायपूर्वक किसी की सम्पत्ति, राज्य, धन अथवा अधिकार छीन लेना, शास्त्र विरुद्ध स्वीकार करना, लालसा रखना स्तेय न रखना अस्तेय कहलाता है।

छल से, बल से, दुराग्रह से, चोरी से जो लिप्सा रखते हैं वह निन्दनीय कर्म हैं। ऐसा आहार हिंसा में सना होता है। आधुनिक युग प्रायः हिंसा के परमाणुओं से व्याप्त है। व्यापारी लोभवश अन्न के भण्डार जमा करके उनकी कीमतें बढ़ा देते हैं। दुकानदार अन्न, घी, तेल, चीनी औषधियां इत्यादि में मिलावट करके धन कमाते हैं राज्य कर्मचारी लोभवश रिश्वत लेते हैं। कुछ लोग चोरबाजारी द्वारा रुपया बटोरते हैं। यह गरीबों के रक्त शोषण द्वारा आया हुआ आहार होता है। जो वेद पाठी नहीं हैं, उसके विरुद्ध भेष धारण करके सत्य को छिपाकर यज्ञ, संस्कार कराने वाले, प्रचार करने वाले धन के लोभ में, ख्याति के लिए लिप्सा रखते हैं वे सब चोरी के भागी बन रहे हैं। घर घर में 'स्तेय' व्याप्त है। किसी से ऋण लिया हो उसे जीते को लौटाना उसके बाद उनकी सन्तान को लौटाना अस्तेय है।

सत्य तो यह है कि आज स्तेय को संसार से निकाल दिया जावे और अस्तेय को अपना लिया जावे तो संसार के समस्त उपद्रव शान्त हो जावेंगे।

'आत्मा' सत्य संकल्पमय है। वह प्रकाश दे रहा है कि हे मानव! यह नीच कर्म है, तुम पतित हो रहे हो। प्रकृति के आवेशों में यदि चले गए तो तुम्हारा मस्तिष्क गिर जावेगा। यह सब जो कुछ ब्रह्म प्रदत्त जगत् में चराचर वस्तु है, वह सब उस ईश्वर की महान् बल, क्रिया व सामर्थ्य से रचना है। जीवों के भोग के लिए है। उसके दिए हुए पदार्थों का भोग उसी को जानते हुए सेवन करना चाहिए। उसमें मेरे पन की भावना जुड़ी हुई न हो। स्व स्वामिभाव सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, कर्म करते रहो परन्तु किसी की वस्तु में लिप्सा न हो। यह बन्धन का कारण नहीं होता। जिस प्रकार एक अध्यापक पाठशाला में विद्यमान उस विद्यालय की वस्तुओं का उपभोग करता हुआ लिप्त नहीं है। यह आध्यात्मिक अस्तेय है।

उस अस्तेय व्रत की सिद्धि प्राप्त होने पर सब रत्न स्वतः आने लगते हैं। अन्न की कोई कमी न रहेगी। बन्धु बान्धव, इष्ट मित्र प्रभावित होकर उसके पीछे स्वतः आने लगते हैं और प्रसन्न होकर अपना सब कुछ अर्पण कर देने में संकोच नहीं किया करते। उस अस्तेय व्रत अनुष्ठान में लोभ,क्रोध, द्वेष, आशा, तृष्णा आदि दोषों का सम्भेदन होता है। मन रूपी दर्पण मल, विक्षेप आवरण के दोषों से विमुक्त होता रहता है।

ब्रह्मचर्य

मुनिवरो! जिस समय कौडली ब्रह्मचारी बाणों की शय्या पर विद्यमान थे। उस समय द्रौपदी ने पितामह से कहा था कि हे पितर! मैं यह जानना चाहती हूँ कि 'ब्रह्मचरिष्यामि' क्या है? उन्होंने कहा कि हे पुत्री! यह जो ब्रह्मचर्य है वह शब्द ब्रह्मचर्य के चरने से बना है कि कोई भी मानव जब ब्रह्म को चरना चाहता है तो वह वीर्यवान बन करके 'ब्रह्म' की आभा को चर सकता है।

श्रद्धा वीर्य स्मृति प्रज्ञा पूर्वकः

ब्रह्मचर्य के परमाणुओं की ऊर्ध्वगति बनाने के लिए प्राणायाम द्वारा ऊर्ध्वगति में रमण करने लगता है।

यौगिक मार्ग के लिए ब्रह्मचर्य की उपासना करनी है और उसकी बेटा! विशेषता मानी गई है। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने का नाम ही उपासना कही गई है।

माता रुक्मिणी ने एक समय भगवान कृष्ण से यह कहा था कि मैं ब्रह्मचर्य की महानता को जानना चाहती हूँ। वह ब्रह्मचर्य क्या है?

क्या हम भी ब्रह्मचारी बन सकते हैं। भगवान कृष्णा ने कहा कि हे देवी! संसार में जो अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकते हैं वे सभी ब्रह्मचारी बन सकते हैं।

देखो! ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं। एक तो महान् आदित्य नाम के ब्रह्मचारी होते हैं, जो भोगों की गणना में नहीं आते, तृष्णा में नहीं जाते, विडम्बना में नहीं जाते, सदैव वेदों के आदेश का पालन करते हैं। परमपिता के ज्ञान, विज्ञान को जानने वाले, ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाले महान् तपस्वी कहलाते हैं। द्वितीय वह जो गृहस्थली में भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं, वर्ण व्यवस्था के अनुकूल पच्चीस वर्ष की ब्रह्मचर्यता कही गई है। उसके पश्चात् गृह आश्रम में प्रवेश होकर एक दो सन्तान उत्पन्न करने के पश्चात् यज्ञ वेदी पर विराजमान होकर प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि आज जो सन्तान उत्पन्न करने की हमारी मनोकामना है वह पूर्ण हो चुकी है। अब हमें परमात्मा के ज्ञान विज्ञान में लगना चाहिए। उसके पश्चात् पति व पत्नी वानप्रस्थ में पहुँच जाते हैं।

पुष्प 1 मुनिवरो! उस ब्रह्मचर्यव्रत के अनुष्ठान में तेज उत्पन्न हो जाता है। द्वापर काल में एक गंगोतरी नामक माता से उत्पन्न एक कौडली नाम का आदित्य ब्रह्मचारी था, जिसका द्वितीय नाम भीष्म कहलाया गया था। बेटा! कैसा अद्भुत ब्रह्मचारी था कि जिस समय महाभारत के संग्राम में अर्जुन शस्त्रों का प्रहार करते थे तो बेटा! भीष्म के शरीर से वे उछल जाते थे। उस समय अर्जुन ने पूछा था कि हे भगवन् आपने कौन सा पदार्थ पाया है, जिससे मेरे शस्त्र आपके शरीर पर आघात नहीं करते। उस समय उन्होंने कहा था कि हे पुत्र! मैंने अपनी माता की आज्ञानुकूल उस अवस्था को पा लिया है कि जिससे मैं मृत्यु विजयी बन गया हूँ। मैं चाहूँगा तो मृत्यु होगी अन्यथा मेरी मृत्यु नहीं होगी। बाणों की शय्या पर विराजमान वह एक वर्ष चार दिवस स्थिर रहे, उनकी भीष्म प्रतिज्ञा थी कि जब तक सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण नहीं होगा, उस समय तक मैं अपने शरीर को नहीं त्यागूंगा। अन्त में जीवन उत्तरायण में चला गया, गायत्री छन्दों का पठन पाठन किया और ब्रह्म लोक को प्राप्त हो गए।

पुष्प 3 सनत कुमार ने नारद से कहा था कि स्मृति से बढ़कर ब्रह्मचर्य है। वह ब्रह्मचर्य ओज और तेज का देने वाला है। यह ब्रह्मचर्य 'ब्रह्म' में रमण करा देता है। आज तुम ब्रह्मचारी बनो, ब्रह्मचर्य की रक्षा करो। हे नारद! यहाँ माता गार्गी ने भी ब्रह्मचर्य की बड़ी प्रशंसा की और कहा है कि ब्रह्मचारी संसार में महान् कहा जाता है, तेजस्वी कहा जाता है। मृत्युंजय नाम से कहा जाता है, उसको रुद्र कहते हैं। ब्रह्मचर्य से मनुष्य मृत्यु को विजय कर लेता है। हे नारद! आज तुम ब्रह्मचारी बनो। ब्रह्मचर्य में तपा हुआ राष्ट्र को कम्पायमान कर देता है।

अपरिग्रह

आज कोई मानव संसार में मिथ्या उच्चारण करके नाना प्रकार के द्रव्य को एकत्रित कर लेता है। अरे मानव! यह द्रव्य तेरे साथ नहीं जाएगा। तेरे साथ तो वह ही कर्म जाएगा, जितना तुम अपने प्रभु से मिलान करते हो। आज तू अभिमान में विराजमान हो जाता है कि मैं इतना द्रव्यपति बन गया हूँ, इतने गृह निर्माण कर लिए हैं, इनका मैं स्वामी हूँ, परन्तु वह तेरे हृदय में अभिमान है। यह अभिमान तुझे स्वयं निगल जाएगा। यह गृह यहीं के यहीं रह जाएंगे, परन्तु एक समय आएगा, जब काल के थपेड़े से यह जीवन का स्रोत बन्द हो जाएगा और यह संसार तो होगा परन्तु तेरा चिन्ह भी न होगा। मुझे स्मरण है यहाँ महाराजा दुर्योधन ने क्या कहा था और महाराज रावण ने क्या कहा था कि मैं विजयी बनूंगा। राम को नहीं आने दूंगा। उस रावण का चिन्ह भी न रहा। आज संसार में कहाँ है रावण? कहाँ है वह स्वर्ण की लंका, वह इस पृथ्वी में रमण कर गई। वह गृह दृष्टिपात भी नहीं आते, परन्तु हम कल्पना कर लेते हैं, विचारधारा बना लेते हैं परन्तु उनका चिन्ह भी हमें प्राप्त नहीं होता। इसलिए हे मानव! तू अपने सूक्ष्म से जीवन को उस परमेश्वर के चिन्तन में लगा ले। उसी की उपासना कर क्योंकि उसकी जो उदारता है वह जितनी तेरे हृदय को छू जाएगी उतना ही तेरा जीवन ऊंचा बन जाएगा और जितना तू प्रभु से दूरी में रहेगा, मानसिक चिन्ताओं में रहेगा, द्रव्य की लोलुपता में रहेगा, जितनी तेरे में धृष्टता आती चली जाएगी, उतनी मानवीयता तेरे से दूर होकर एक समय वह आएगा कि तुझे महाराज दुर्योधन की तरह वह स्वयं तुझे निगलती चली जाएगी।

योग में अनुशासन तप आहार

जो मानव योग अभ्यास करने की इच्छा रखता है उसे सर्वप्रथम अपने आहार को शोधन करना चाहिए। क्योंकि आहार से मन का शोधन होता है। मानव का आहार क्या है? मानव का आहार नाना प्रकार की वनस्पतियां व वृक्ष पर उगने वाले फल हैं। वास्तव में जब हम शुद्ध आहार करते हैं तो हमारी बुद्धि शुद्ध व निर्मल हो जाती है। वाणी में शुद्धता आने लगती है, विचार सत्य व शुद्ध हो जाते हैं। जो दुर्गन्धदायक पदार्थों का सेवन करते हैं, उनमें, अंग अंग में, दुर्गन्ध उत्पन्न हो करके उनकी भावना समाप्त हो जाती है।

पुष्प 25 हमारे ऋषियों मुनियों ने, जिन्होंने यौगिक क्षेत्र में जाने का प्रयास किया, उन्होंने एक ही वाक्य कहा कि हमारा अन्न बहुत पवित्र होना चाहिए। अन्न से ही मन का निर्माण होता है।

मेरे प्यारे! वह समय मुझे स्मरण है जब मेरे पूज्यपाद गुरुदेव यह कहा करते थे कि आज तुझे उस अन्न को पान करना है, जिस अन्न से तुम्हारा मन पवित्र बनेगा। वह अन्न हिंसा से सना नहीं होना चाहिए। हिंसा से व्याप्त अन्न मन व बुद्धि को मलीन व विक्षिप्त करता रहता है। योग के जिज्ञासु का सबसे प्रथम तपस्या आहार है। मेरे पूज्यपाद गुरुदेव मार्ग में से औषधियों को एकत्रित करते रहते, जिन पर किसी का अधिकार नहीं होता। नाना प्रकार की औषधियों को एकत्रित करके उसका पात बना करके पान कराते थे।

मुनिवरो! उस अन्न के सेवन करने से 'मन' पवित्र बन जाता है और बुद्धि में मेधा, ऋतम्भरा, प्रज्ञा की तरंगे उत्पन्न हो जाती हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य मुनि महाराज जब योगाभ्यास के लिए भयंकर वन में पहुँचे तो उन्हांने शिलक, खेत में गिरे शेष अन्न के दानों का सेवन कर जीवन निर्वाह किया और उस अन्न को पान करते थे क्योंकि उस अन्न पर किसी का अधिकार नहीं होता है। वह अन्न हिंसक वृत्तियों मे सना हुआ नहीं होता।

पुष्प 16 आज मानव यह चाहता है कि मैं मिथ्या आहार को पान करते हुए तथा संसार की लोलुपता में रमण करते हुए योग की उस अमूल्य निधि को प्राप्त कर लूं तो बेटा! यह असम्भव हो जाता है। एक वाक्य मुझे स्मरण आता रहता है कि एक समय बेटा! महाराज प्रजापति के यहाँ सोमकेतु जी पधारे। सोमकेतु महाराज अंगीरस गोत्र में उनका जन्म हुआ था। तो मुनिवरो! उनका अनुष्ठान चल रहा था और अनुष्ठान कैसा था? उन्होंने 24 वर्ष का अनुष्ठान किया था और वह ऐसा था कि निद्रा को एक पल के लिए लेने का व्रत था और नाना औषधियों को ही पान करने का व्रत अनुष्ठान किया था और प्रजापति ने उनका स्वागत किया और स्वागत में सुन्दर सुन्दर फल, सोमलताएं लाई गईं। उसका उन्होंने पान किया। मुनिवरो! उनके राज कोष में जो द्रव्य था, उसी के वह फल थे। उन फलों के पान से मन की गति चंचल हो गई। उन्होंने कहा कि हे राजन् तुम्हारे फल के सेवन से मेरे मन में चंचलता आ गई है।

तो सोमकेतु महाराज ने उस अन्न तथा परमाणुओं को जानने के लिए यौगिक परिक्रियाएं कीं। उन क्रियाओं के करने पर यह प्रतीत हुआ कि जिस द्रव्य से यह फल आए हैं, वह अन्न राष्ट्र में कोई पतिहीन कन्या देवी है। तो मुनिवरो! उसका कर्मचारियों द्वारा अनुसन्धान किया गया तो यह प्रतीत हुआ कि एक वर्ष पूर्व हमें राज्य कर लेना था परन्तु वह उसके द्वार न था और उसे वह अपने एक स्वर्ण का आभूषण बेचकर राज्य कोष को देना ही हुआ था।

पुष्प : 16 मुनिवरो! भगवान राम अपने भ्राता लक्ष्मण व विदुषि सीता के सहित रहकर नाना प्रकार की सामग्री, औषधियां एकत्रित करके नित्य प्रति यज्ञ किया करते थे। एक समय भगवान राम से सीता ने कहा कि हे प्रभो! आज मेरा मन तो क्षुद्र हो रहा है। आज यज्ञ नहीं कर पाते। उन्होंने कहा हे देवी! यह शब्द तुम्हारे मुख से शोभा नहीं दे रहे हैं क्योंकि यह तुम्हारा जो मुख है वह भी तो यज्ञ वेदी है। आज हमें यज्ञ करना चाहिए क्योंकि यज्ञ से मानव का मन पवित्र होता है। सीता लज्जित हो गईं।

अब लक्ष्मण ने सोचा कि माता को आज ऐसा विचार क्यों बन गया। उसका उन्होंने अनुसन्धान किया तो उनको प्रतीत हुआ कि महाराज निषाद् के राज्य से, उनके लिए कुछ भोजन पान कराया था। वह उनका भोजन था जिनके गृह में कभी यज्ञ नहीं होता था। उसी के प्रभाव से माता सीता के मन पर यज्ञ में अश्रद्धा के भाव बन गए।

पुष्प : 26 जो योग मार्ग पर जाना चाहता है, उसे आयुर्वेद का भी ज्ञान होना अनिवार्य है। मेरे प्यारे! जब हम अपने पूज्यपाद गुरुदेव के द्वारा विराजमान होते तो मेरे पूज्यपाद गुरुदेव ने सबसे प्रथम ''जाल'' का दुःख, शोक व रोग को पैदा करने वाले भोजन रजोगुणी लोगों को प्रिय होते हैं।

स्वाद् लोलुपता द्वितीय जो मानव योगाभ्यास करना चाहता है, उसे स्वाद लोलुपता से दूर रहना चाहिए। यह रसना इन्द्रिय का विषय है, उसके लिए हमें निर्विषय बनना है, अनासक्ति योग के अभ्यास करने पड़ते हैं। विषयवती दिव्य वृत्ति चित्त की स्थिति बांधने वाली होती है।

नासिका के अग्रभाग में संयम करने से, उसके जय से दिव्य गन्ध, इसी प्रकार जिह्वा के अग्रभाग में संयम करने से, दिव्य स्वाद, जिह्वा के मध्य भाग में संयम करने दिव्य स्पर्श तथा जिह्वा के मूल में संयम करने से दिव्य शब्द का भाव होने लगता है। उन दिव्य अनुभूतियों के द्वारा मन स्थिर होने लगता है। बाह्य स्वाद लोलुपता, इन्द्रिय विषयों में आसक्ति उस दिव्य उत्पन्न हुई वृत्ति के साथ समाप्त हो जाते हैं। और बुरे प्रतीत होने लगते हैं। ''महर्षि पतंजलि''

रसीले, चिकने व दृढ़ हृदय के लिए हितकारक भोजन सत्त्व गुणी लोगां को प्रिय होते हैं।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रुखे, जलन पैदा करने वाला, पंचांग बनाया। जाल एक वृक्ष होता है। उस जाल का पंचांग एक वर्ष तक पान करते रहे और पान करने के पश्चात् इस प्रकृति पर उसका यह परिणाम हुआ कि यह जो नाना काम वासनाएं थीं, मानो जो मन की चंचलता थी, उसमें स्थिरता आ गई, प्रभु को अपने में स्वीकार करने लगे। उन्होंने लगभग एक वर्ष तक पीपल के पंचांग को, एक वर्ष तक वट के पंचांग को , एक वर्ष तक बेल के पंचांग को, एक वर्ष तक स्वाति के पंचांग को पान कराया। उसे पान कराने के पश्चात मन में पूर्ण स्थिरता आ गई। स्थिरता आने का परिणाम यह हुआ कि जीवन में तपस्या का पूर्ण बल आ गया। बुद्धि मेधावी बनने लगी। ऋतम्भरा व प्रज्ञा बनने लगी। मुनिवरो! योगी जब योग में परिणत हो जाता है, तो यह जो स्थूल पदार्थ नाना प्रकार की वनस्पति का जो रस है, उसको भी वह त्याग देता है। वह केवल वायु के अग्नि के तत्वों में जो अन्न सूक्ष्म रमण कर रहा है, उन परमाणुओं को अपने में ग्रहण कर लेता है और उसी के ग्रहण से वह तृप्त रहता है।

अहः देखो जो वृक्षों के नाना प्रकार के फल हैं, परन्तु उनमें जो पोषक तत्व होता है, योगी जब मन के ऊपर संयम करता है, बुद्धि और मन दोनों का समन्वय होने पर उसका आहार भी सूक्ष्म बन जाता है। कैसा आहार बनता है? वह उन फलों के रस स्वादन को करता है। संकल्पभाव से तृप्त रहता है।

निद्रा शुद्ध आहार के अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है और एक दिव्य प्रकाश (आनन्द) उमड़ने लगता है। इसी तपस्या के फलस्वरूप निद्रा पर विजयी बन जाते हैं क्योंकि शुद्ध और अल्पाहार द्वारा मन का शोधन होता है, प्राणों का शोधन होता है और निद्रा का भी अभाव हो जाता है। निद्रा के न्यून होने पर एक प्रभु को ही अपने में स्वीकार करने लगता है। आज बेटा! मैं इस यौगिक क्षेत्र में जाना नहीं चाहता। विचार विनिमय यह कि वह यौगिक आत्मा निद्रा पर भी विजय कर लेता है। मुझे स्मरण है बेटा! महर्षि दालभ्य ने 84 वर्ष तक निद्रा का आहार नहीं किया था। महर्षि व्यास ने लगभग 101 वर्ष तक और महर्षि पातंजलि ने लगभग 85 वर्ष तक निद्रा पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया था।

मस्तिष्क पर औषधियों का लेपन करने का अभिप्राय यह है कि उससे बुद्धि तीव्र हो जाती है।

पुष्प 21 एक चार वर्षीय बालिका को साधना में सहायता देने के अभिप्राय से उसके मस्तक पर ''योगाघृतिक'' नाम की औषधि का लेपन किया गया तो उसकी चेतना इतनी उद्गमता में परिणत हो गई तथा इतनी प्रज्ज्वलित हो गई कि योग में उसकी प्रवृत्ति सहज हो गई।

पुष्प 13 मस्तिष्क पर चन्दन 2 अगर 3 तगर 4 सोनवत तथा शंखबेला के लेपन से मानव की बुद्धि नवीन रहती है और मानव को चंचल नहीं होने देती। मानव के मस्तिष्क में जिन नाड़ियों की ध्रुवा गति होती है उनकी उर्ध्वा गति बन जाती है, इसका कारण यह है कि इन औषधियों में चन्द्रमा का रस होता है तथा सूर्य की किरणों का अति प्रतिभान होता है। इससे ऊर्ध्वागति बन करके कामना की प्रवृत्ति नहीं रहती और परमात्मा के आंगन मे प्रवृत्ति अग्रसर होने लगती है।

1 ब्रह्मकेतु 2 सर्पकेतुक को बराबर लेकर मिश्रण किया 3 विरुद्ध को बराबर लिया 4 किरकिट नाम की औषधि में खरल करके अपने मूत्र में खरल किया। उसका 40 दिन तक सेवन करने के पश्चात् आत्मा का उत्थान होना प्रारम्भ हो जाता है।

देर के बने हुए स्वाद् से रहित, दुर्गन्ध वाले वासी, जूठे और बुद्धि को बिगाड़ने वाले भोजन तमोगुणी लोगों को प्यारे होते हैं। 'गीता''

जो योगाभ्यास करना चाहता है, उसे सूक्ष्म आहार सेवन करना चाहिए।

योग में अनुशासन स्वाध्याय

1 आत्म अनात्म विवेक के लिए आर्ष ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन करते रहना और पूर्ण जिज्ञासा में बने रहना चाहिए।

2 स्वाध्याय का द्वितीय व प्रधान विचार तो यह है कि अपनी संज्ञा को दृष्टिपात करना। मैं कहाँ हूँ। मेरे अन्तःकरण में कौन कौन से दोष हैं। व्रत अनुष्ठान में कितनी प्रगति हो रही है, उनमें क्या क्या बाधाएं मेरे मार्ग में तत्पर रहती हैं। मेरी ऊर्ध्वागति कैसे हो सकती है, उनको सोचते रहना व सदैव जिज्ञासा में बने रहना ही स्वाध्याय का मुख्य उद्देश्य है।

3 निर्मल अन्तःकरण की स्थिति में ''ओ३म्'' प्रणव जप, गायत्री छन्दों का जप नदी के तट पर बेटा! निरन्तर करें। क्योंकि आपो ज्योति, जल में ज्योति होती है। वह ब्रह्म का स्वरूप बन करके रहती है। जो ज्योति का दर्शन करता रहता है, उस ज्योति का सम्बन्ध

मानव के मन से होता है और मन का स्वभाव जल के समान है।

ऋषि मुनियों ने और ब्रह्मा ने ब्रह्म मूहुर्त्त की बेला में पुलकित हो कर सन्ध्या के लिए आग्रह किया। यह बेला रजोगुण और तमोगुण से परे होती है। इस पवित्र बेला में जो वायु मण्डल में वायु रमण करती है, वह इतनी पवित्र और अमूल्य होती है कि वह हमारे हृदय को पवित्र बना सकती है।

जो मानव आध्यात्मिक क्षेत्र में आकर के बेटा! केवल उच्चारण ही उच्चारण करता रहता है, यह तो उसकी वाणी का रस रह गया है। जो लोग केवल वाणी का विषय लेकर आगे बढ़ते हैं। वे अधूरे रहते हैं। हमें उसके लिए हताश भी नहीं होना चाहिए। हमें प्रभु के आंगन में जाने के लिए संलग्न रहना चाहिए।

स्वाध्याय पाप से बचाने वाला है, वह स्वाध्याय सारे कर्मों से, दान से, यज्ञ से श्रेष्ठ होता है। स्वाध्याय ही इन सबकी पराकाष्ठा है। जो ठीक ठीक जानकर स्वाध्याय करता है वह पूर्ण रीति से तप रहा है। वह स्वाध्यायशील एकाग्र हो जाता है। अपने आप का परम चिकित्सक बन जाता है।

उस स्वाध्याय व्रत के अनुष्ठान में, आहार सूक्ष्म रखा जाता है।

काष्ठ मौन उस स्वाध्याय व्रत के अनुष्ठान में मौन व्रत अनिवार्य है। एकान्त स्थली में विराजमान होकर शुद्ध रहकर मौन व्रत की साधना की जानी चाहिए। यह साधना अत्यन्त श्रेष्ठ व अनिवार्य है। एक वाणी का मौन होता है, एक वाणी व मन दोनों के सहित मौन होता है। उसे काष्ठ मौन कहते हैं।

चन्द्रायण व्रत इस व्रत अनुष्ठान में चन्द्रमा की कलाओं के घटने बढ़ने के अनुसार अन्न के ग्रास घटते बढ़ते (सूक्ष्म) ग्रहण किए जाते हैं और प्रभु के चिन्तन में लीन रहते हैं। यह व्रत एक मास में पूर्ण होता है। वे ग्रास अमावस्या से अथवा पूर्णिमा से प्रारम्भ होते हैं। एकान्त स्थली हो, जहाँ किसी मानव के दर्शन भी न हों, कोई शब्द भी सुनाई न देता हो। ग्रासों के लिए कोई सात्विक पुरुष पहुँचा देवे। यह साधना प्रायः गीष्म ऋतु में की जाया करती है। भूमि पर शयन, प्रातः सायं द्वितीय समय स्नान, निद्रा केवल एक पल का विधि विधान रक्खे। आत्म चिन्तन व स्वाध्याय में संलग्न रहे। इस अनुष्ठान के द्वारा चित्त में आनन्द उमड़ने लगता है और एकान्त में रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

किसी नदी तट पर एकान्त स्थान में पवित्र मन करके गायत्री छन्दों का नित्यप्रति एक सहस्रवार जप करे। प्रभु आश्रित जी।

आत्म विश्वास में आत्म बल इश्वर प्रणिधान

मुनिवरो! योग विद्यार्थी को सबसे पूर्व अपने नाना आडम्बरों को, नाना अवगुणों को नाना प्रकार के विकल्पों को उस विधाता को दे देना चाहिए। उस समय मानव निर्द्वन्द्ध हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से मन के आवेश समाप्त हो जाते हैं और योग मार्ग स्पष्ट हो जाता है।

नाना अवगुणों से मेरा अन्तःकरण भरा हुआ है। हे प्रभु! मैं आपकी प्रेरणा का इच्छुक हूँ। तू ही मुझे महान् बना सकता है।

जब मानव सब जगह उस प्रभु की महिमा को ही दृष्टिपात करने लगता है तो सब जगह वह प्रभु को ही देखता है। वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, इस समय अन्तःकरण निर्मल और पवित्र हो जाता है। प्रकृति निचले स्थान पर चली जाती है। तन मन आत्मा के अनुकूल कार्य करने लगता है तो आत्मा मन रूपी शेषनाग पर सवार हो जाता है, जिसमें नाना डसने वाले विषधर विद्यमान रहते हैं।

जब तक मनुष्य भौतिकता में लगा हुआ है, प्रकृति के आवेशों में रहता है, उसको प्रभु में विश्वास ही नहीं होता। जब तक प्रभु में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी तब तक भक्ति मार्ग नहीं खुलता। ईश्वर प्रणिधान का भाव यह है कि तुम जो कर्म करो, उसमें फल की आसक्ति को छोड़कर करो। उन कर्मों को प्रभु के अर्पण कर दो। तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, भोग देने वाला तो वह ही प्रभु है। महान् पुरुष जनता जनार्दन की सेवा में लीन रहते हैं। वे मन के आवेशों में निर्द्वन्द्व रहते हैं।

जब मानव कण कण में प्रभु को दृष्टिपात करने लगता है तो वह पाप कर्म कैसे कर सकता है। जो सर्वव्यापक है, उससे कुछ नहीं छिप सकता। मानव को पापों से भयभीत होना चाहिए। हे मानव! दूसरों पर दया करने से पूर्व अपने पर दया करो। निर्भयता में ब्रह्म का स्वरूप है। निर्भयता तभी आ सकती है जब उस ब्रह्म की गोद में खिलवाड़ करने लगोगे। उस परमात्मा का गुणगान गाने से हृदय में आनन्द की तरंगे उत्पन्न होने लगती हैं। जब तक अपनी अन्तरात्मा पर ही विश्वास नहीं होगा तब तक मानव यौगिक परिक्रियाओं में तथा परमात्मा की चेतना में कैसे रमण कर सकता है।

महात्मा प्रहलाद के हृदय में, उस विधाता में कैसी विचित्र आस्था थी। उसे नष्ट करने के लिए उसके गले मे सर्पों की माला ओत

प्रोत करा दी गई। उसने मन में विचारा कि हे सर्पराज, तेरे कण कण में भी वही परमात्मा विद्यमान है और वह ही मेरे में व्याप्त है। क्या तुम मुझे डसने को तत्पर हो। ऐसे अहिंसा परमोधर्मः के परमाणु जब उसके हृदय से निकलकर उनका मिलान सर्पराज से हुआ तो वे विषधर उसे छू न सके। यह उस प्रहलाद के आत्मविश्वास का चमत्कार था।

माता सीता को उस प्रभु में अगाध निष्ठा व श्रद्धा थी। एक रात्रि वन में भगवान राम अपने विधाता लक्ष्मण के साथ विश्राम कर रहे थे। पूर्णिमा का चन्द्रमा प्रकाश दे रहा था। उसी भयंकर वन में एक मृगराज आ गया। माता सीता जागरूक थी! उन्होंने सोचा कि यदि दोनों भ्राता राम और लक्ष्मण को जागरूक किया गया तो मुझे यह महान पाप होगा क्योंकि जो मानव निद्रा में होता है वह मानो उस 'ब्रह्म' के समीप होता है, इसलिए उस प्रभु के द्वार से मानव को नहीं आना चाहिए। उन्होंने उस समय प्रभु से याचना की कि हे प्रभु क्या यह मृगराज हमें पान कर लेगा और उसी समय उस मृगराज से भी वन्दना की है कि हे मृगराज मैं जानती हूँ कि हम तेरे राष्ट्र में हैं परन्तु मार्ग का जो अधिपति होता है, उसका कर्त्तव्य होता है कि वह उसकी रक्षा करे। हे मृगराज! तू इस मार्ग को त्याग दे। तो मुनिवरो! उसी समय वह मृगराज उस मार्ग को छोड़कर वहां से चला गया।

पुष्प 7 मुनिवरो! आज मानव नास्तिकता को क्यों प्राप्त हो जाता है। उसका प्रभु में विश्वास क्यों नहीं होता? वह आस्था उसे इसलिए नहीं होती क्योंकि वह भौतिकता में लगा हुआ है। प्रकृति के आवेशों में आकर अभिमान में आकर बुद्धि नास्तिक बन गई है। उसने मानवता को समाप्त कर लिया है। परन्तु उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि तू नास्तिक हो गया है, तेरा हृदय तो नास्तिक नहीं हुआ है। तेरी आत्मा उस परमात्मा का पुत्र बना बैठा है। तेरे मन का संकल्प इतना तुच्छ हो गया है कि संसार में उन तर्कों को बटोर कर नियुक्त कर देता है। उसका परिणाम यह होता है कि उसे अपने परलोक का भी विचार नहीं होता। तूने अपने जीवन को इतना सीमित बना लिया है, यह सब मन के आवेश हैं। आत्मा तो अपने परमपिता परमात्मा का पुत्र है, उसमें तो नास्तिकता है ही नहीं।

आज मानव कहता है कि नास्तिक उसे कहते हैं जो परमात्मा का चिन्तन नहीं करता। हम उसको नास्तिक नहीं कहा करते। अरे! नास्तिक वह होता है जो अपने कण्ठ से परमात्मा का चिन्तन कर रहा है और हृदय में महान् क्लिष्टता है। अन्तःकरण में महान् तुच्छ विचार ओत प्रोत हैं। दूसरों का द्रव्य मेरे द्वार आ जाए, दूसरों की निन्दा करता रहता है, कोई देवकन्या हमारे नेत्रों के समक्ष आई तो हृदय में यह विचार न रहा कि वह तो पुत्रीवत है और प्रभु का चिन्तन हो रहा है। वह नास्तिकों में सबसे बड़ा नास्तिक है। आज हमारा मधु पाठ क्या कह रहा है? उस पाठ में ओत प्रोत होकर हमने जाना कि परमात्मा का चिन्तन हृदय से करो, हृदय परिवर्तन हो जाएगा। केवल प्रभु का चिन्तन करने वाला ही आस्तिक नहीं होता। मानो जो प्रभु का चिन्तन आत्मिक श्रद्धा से करता है, उसके लिए अपना हृदय समर्पित कर देता है, वह ही ठीक आस्तिक होता है।

वह जीवन भी क्या जीवन है, जिसमें उस विधाता को श्रद्धापूर्वक स्मरण करने का समय न हो। प्रायः लोक में ऐसा देखा गया है कि मृत्यु के समय अथवा जब जब विपत्ति काल में मानव अपने को असमर्थ दृष्टिपात करने लगता है, उस समय वह हृदय से प्रभु की आराधना करता है, याचना करता है। उस समय ईश्वर प्रणिधान वृत्ति उत्पन्न होने लगती है। हे प्रभु! मैं घोर संकट में हूँ, कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। उस आत्म समर्पण का प्रभाव यह होता है कि सहसा उसे दिव्य सहायता मिल जाती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त देखे गए हैं, सुने गए हैं। वह ही ईश्वर प्रणिधान योगी की रक्षा करता है।

ब्रह्म चेतना ही सार्व भौम है

पुष्प 5 मुनिवरो! देखो, एक समय महानन्द जी ने लोमश मुनि से कहा था कि आधुनिक काल में यह कहा जाता है कि माता पिता के संयोग से बालक उत्पन्न हो जाता है और जगत् की रचना भौतिक तत्त्वों के मिलान की ही एक रूपरेखा है। चेतन नाम की कोई वस्तु ही नहीं।

आज के मानव ने अपनी बुद्धि को इतना सीमित बना लिया है, तुच्छ बना लिया है। आज तक संसार में जितने वैज्ञानिक हुए बेटा! उन में ऐसा कोई भी वैज्ञानिक नहीं, जिसने यह जाना कि परमात्मा ने यह मनुष्य का ढांचा जो बनाया है उसमें बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ दो नाड़ियां होती हैं। उनको उस प्रभु ने नियुक्त किया होता है। माता के गर्भ में कौन से वैज्ञानिक ने कौन से मानव ने जाकर यह शरीर बनाया है। वह मेरा प्रभु है। वह मेरा विधाता ही विश्वकर्मा है, जिस कारीगर ने कैसा विचित्र शरीर, नेत्र, श्रोत्र, ग्रीवा, मुख मण्डल और नाना इन्द्रियों की रचना की है और सबका एक रूप नहीं होता, या कोई न कोई अन्तर अवश्य होता है। उस समय उस माता को भी ज्ञान नहीं होता कि तेरे उदर में एक बालक के शरीर की रचना हो रही है तथा चक्षु आदि बन रहे हैं।

मुनिवरो! आज के मानव ने किसी काल में यह नहीं जाना कि चन्द्रमा की परिक्रमा हो रही है। आज का वैज्ञानिक अन्तरिक्ष में भी उड़ान उड़ रहा है, परन्तु यह नहीं जाना कि अरे! तुम्हारा जो यन्त्र चल रहा है, उससे चन्द्रमा का ही तुच्छ ज्ञान हो रहा है, परन्तु तुम्हारा मन ही इतनी तीव्र गति वाला है कि सूर्य मण्डल तक पहुँच जाता है। योगी जब उस विश्वभान को जान लेता है तो समस्त लोक लोकान्तरों को जानने वाला बन जाता है। उस प्रभु की महान् सृष्टि में रमण करने लगता है। मुनिवरो! वह महान् ब्रह्माण्ड जिसका रचियता मेरा वह प्रभु है कैसा महान् है कि एक एक सूर्य मण्डल का अधिपति एक एक सूर्य माना गया है और एक एक सौर्य मण्डल में पचासी लाख के लगभग लोक और मण्डल माने गए हैं। इससे ऊपर सौर्य मण्डल बृहस्पति माना गया है। इससे ऊपर ध्रुव मण्डल माना गया है। उन्होंने कहा कि यह जो आकाश गंगा है, इसमें एक अरब दो करोड़ नौ लाख दो सौ बीस मण्डल माने जाते हैं। और ऐसी ऐसी आकाश गंगाएं उस प्रभु की सृष्टि में अनन्त मानी गई हैं। इस महान् ब्रह्माण्ड का कर्त्ता व हर्त्ता वह ही मेरा प्रभु है। उसी के नियम में सृष्टि की रचना होती है, उसी के नियमानुसार उसका प्रचलन है। समस्त लोक लोकान्तर उसी के नियमों में कटिबद्ध रहते हैं, कोई गड़बड़ नहीं होती और जब वह सूत्रता में अपनी स्वाभाविक प्राणशक्ति (महत्) को समेट लेते हैं तो यह अनन्त व महान् ब्रह्माण्ड में उपद्रव होने लगते हैं। महान् प्रलय काल छा जाता है। उस समय वे अभिमानी जीव उस प्रभु को ही स्मरण करने लगते हैं। हे प्रभु! मेरी रक्षा करो। क्योंकि उस समय उसके वश की बात नहीं। अन्त में उसी को स्मरण करते हुए उसी को सौंपकर उसी की गोद में सो जाते हैं।

मुनिवरो! हमारा जो मौलिक तत्व माना गया है, उसकी कोई धारा है। उसी धारा में ही ब्रह्म की चेतना दृष्टिपात आती रहती है। आज हम उस सर्वस्व प्रभु को कण कण में दृष्टिपात करें। हमको स्वयं अपने पर दया करनी चाहिए। दयालु कौन होता है? जो आत्म तत्त्व को जानता है, जो उस परमपिता परमात्मा को कण कण में स्वीकार करता है, वह अभय हो जाता है। उस समय वह आनन्द को अनुभव करने लगता है, जहाँ उसे पहुँचना है परमात्मा वह बिन्दु है, जो सब बिन्दुओं को चला रहा है, कम्पन्न दे रहा है, लोक लोकान्तरों को गति दे रहा है। शरीर से जब प्राण चला जाता है तो लाखों रुपए व्यय करने पर भी चला गया प्राण वापिस नहीं होता। उस प्राणदाता को स्मरण करो, उसी के स्मरण से हे मानव! तेरा कल्याण होगा।

भक्ति योग

वह प्रभु हमारे जीवन का हर समय साथी बना हुआ है। हमें उसकी लीला को प्रत्यक्ष करना चाहिए। प्रकृति मानव को नीचे गिराने वाली है। जो आनन्द का स्रोत है, जो शून्य प्रकृति को कम्पायमान बना रहा है, उसी को सोचना चाहिए।

हे प्रभो! तू ही कल्याण करने वाला है। तू मानव को उज्ज्वल बनाता है। तेरी महत्ता संसार में ओत प्रोत है। आज हम उसको हृदय से स्मरण करें।

पुष्प 9 हे प्रभो! हम यह चाहते हैं कि हम सदैव आपके गुण गाते रहें और कभी भी आपसे विमुख न हों। हमारा जीवन आपकी महिमा में ही पनपे और संसार की कटुता, मान अपमान की धाराएं हमारे समीप न आएं। मैं इन संस्कारों से पार होना चाहता हूँ। हे परमात्मन्! संसार में हमें मिथ्यावाद से दूर ले चल। सत्यवाद में हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिए। मानव प्रभु का अनुभव तब ही कर सकता है जब वह अपनी कामनाओं को शान्त कर दे। हे प्रभु! तू महान् है, अनन्त है।

आसन

पुष्प 16 योगाभ्यासी का पवित्र आसन होना चाहिए। और मुनिवरो! वातावरण भी, वायुमण्डल भी पवित्र होना चाहिए। जब योगाभ्यास करते हैं, उस समय अन्न की जो सूक्ष्मता है, उसे जानना चाहिए। बिना अन्न की सूक्ष्मता के योग नहीं होता।

एक समय महर्षि पनपेतु मुनि ने बारह वर्ष तक भयंकर वनों मे औषधि व वनस्पतियां का रस पान करके योगाभ्यास किया था। आज मानव यह चाहता है कि मैं संसार की लोलुपता में भी और सुन्दर सुन्दर पदार्थों का, ऊंचे से ऊंचे पदार्थों का पान करता हुआ योग की निधि को प्राप्त कर लूं तो बेटा! यह असम्भव है। जो योगाभ्यास करना चाहता है, उसे आयुर्वेद का भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि बहुत सी औषधियां इस प्रकार की होती हैं कि जब योगाभ्यास करते हैं तो मस्तक पर उनका लेपन किया जाता है। वह योगियों का श्रृंगार भी माना गया है। उस समय मस्तक शान्त रहता है मन की गति चंचल नहीं रहती। बेटा! जब मेरे पूज्यपाद गुरुदेव योगाभ्यास करते थे तो 36 प्रकार की औषधियों का लेपन उनके मस्तक पर रहता था। बेटा! उस अभ्यास में आरूढ़ होने वाले योगी का शरीर इस प्रकार का होता है कि बाहर भीतर प्रत्येक इन्दिय से सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है। वह योगी परमात्मा के गर्भ में और उसकी महिमा का पात्र बन जाता है।

पर्वतों में एक 'स्वातांग आचमन केतु' नाम की औषधि होती है, उसमें यह विशेषता होती है कि विद्युत जो पृथ्वी में मिश्रित है, उसे वह विशेषकर अपने में रखने की शक्ति रखती है। योगीजन उसका एक आसन बनाते थे तथा उसका प्रयोग साधना के लिए करते थे। 'सर्पकेतु' औषधि का शयन करने का आसन बनाया जाता है। उसमें यह विशेषता है कि उस आसन के समीप सर्प नहीं आते।

जिस आसन के ग्रहण करने में स्थिरता बनी रहे। सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठा जा सके। वह ही योगाभ्यासी का आसन है।

प्राणायाम

प्राण विद्या प्राण विद्या अति सूक्ष्म विद्या है। कात्यायन के पुत्र कवन्धी ने पिप्पलाद ऋषि से पूछा कि हे भगवन्! निश्चय किससे व किस प्रकार ये प्रज्ञाएं उत्पन्न होती हैं। उन्होंने कहा कि हे वत्स! वह प्रजापति ईश्वर तप करता है और उसने तप करके प्रकृति को तपाकर उस महान् प्रकृति से रयि और प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया। उस प्रकृति के विकृति होने पर दो धाराएं उत्पन्न होती हैं एक प्राण (म्छम्त्ल्ल्) द्वितीय 'रयि' (ड।ज्म्त्।स्)। दोनों के संघात से सृष्टि की रचना हो जाती है शरीर संज्ञा का निर्माण हो जाता है अथवा प्रज्ञायें उत्पन्न होती हैं। प्राण जीवनी शक्ति संचालक है आरै रयि मन, बुद्धि, पंच तन्मात्राएं व इन्द्रियाँ होती हैं। उस प्राण की विद्यमानता में समस्त कार्य व्यापार होने लगते हैं। वह प्राण ही आत्मा के लिए उपभोगी माना गया है। मानो वह प्राण ही दुःख, सुख, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी एवं समस्त विषयों का भोगता है। रयि शरीर अवयव उसके लिए साधन रूप कार्य कर रहे हैं। वह 'प्राण' मन में कर्म से उत्पन्न हुई वासना से इस शरीर में आता है और जैसे शरीर में यह छाया, शरीर के साथ है उसी प्रकार उस 'जीव' के साथ छायावत् फैला हुआ है।

जैसे सम्राट अधिकारियों को नियुक्त कर देता है इस नगरी में वह मूल प्राण, जीवनी शक्ति ही अन्य प्राणों को पृथक् पृथक् क्षेत्रों में नियुक्त करता है।

उस अन्तरात्मा के दो शुद्ध स्वाभाविक गुण 1 ज्ञान 2 प्रयत्न हैं। उन्हीं के आधार पर शरीर रचना का महत्व है। 'ज्ञान' के लिए 'रयि' अवयव 'मन' सम्बन्धी निर्माण और उसके संचालन के लिए प्राण ।छम्त्ल्ल्ए टप्ज्म्स् थ्ल्ब्म् जीवनी शक्ति प्रकृति के विकृत होने पर तत्पर होती है। 'ज्ञान' का कार्य है बोध, संकल्प, अभ्यास। यदि वह आत्मा से प्रेरित है तो वह शुद्ध सत्य संकल्प के रूप में प्रकट होता है, उसकी ऊर्ध्वगति होती है और प्रकृति के साथ उसका भौतिक स्वरूप बन जाता है। ऋषि कहता है कि ज्ञान का माध्यम तो ''मनीराम'' अथवा चतुष्टय अन्तःकरण बन गया और 'प्रयत्न' का माध्यम 'प्राण' बन गया। प्राण का शरीर में आते ही विभाजन होने लगा।

पुष्प 26 विचार विनिमय यह कि यदि तुम 'मन' को निरोध करना चाहते हो, एकाग्र करना चाहते हो तो विभक्त होने वाली जो परिक्रिया 'प्राण' हैं, इसका 'मन' से मिलान करना आरम्भ कर दो क्योंकि मन और प्राण दोनों को एकाग्र करने वाले साधक ही योगी बनते हैं। दोनों शक्तियों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास करो। जब दोनों एक सूत्र में पिरोएं जाते हैं तो योगी इनके ऊपर विश्राम करता हुआ जो आत्मा के प्रकाश में कार्य हो रहे थे उसके ऊपर शयन कर जाता है और शयन करता हुआ ऋषियों ने यह कहा है कि वह चित्त के क्षेत्र में रमण करता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में संचित कर देता है और उस समय उसके लिए यह संसार सहज हो जाता है।

योगाभ्यास उसी को कहते हैं जिसमें मन और प्राण की गति का समावेश किया जाता है। जब मन और प्राण दोनों एक गति में आ जाते हैं, योग प्रारम्भ हो जाता है।

यदि कोई मन को एकाग्र करना चाहता है तो केवल प्राण के आश्रित ही किया जा सकता है। मन का समावेश प्राण में किए बिना इसकी गति कदापि धीमी नहीं होगी॥पुष्प 16॥

मानव के हृदय और मस्तिष्क उस समय एकाग्र होते हैं, जब मानव की सांसारिक इच्छाएं, सांसारिक वैभव, नाना प्रकार का अप्रेत (संस्कार) उसमें संकुचित हो जाता है। उस समय उसके हृदय में विशालता आनी प्रारम्भ हो जाती है। पुष्प 10॥

हमें आत्मा, मन और प्राण तीनां को मूलाधार, नाभि, हृदय, कण्ठ, घ्राण, ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना है और जब मन और प्राण का समन्वय हो जाता है तो उस आत्मा का एक यान बन जाता है और वह आत्मा उस पर सवार हो जाता है और वह प्रकृति पर शासन करने वाला होता है।

मन और प्राण दोनों को सहकारिता में लाना है क्योंकि मन और प्राण का विभाजन होते ही आत्मा के मण्डल में चित्त का निर्माण हो जाता है। मन और प्राण के विभाजन होने का नाम ही चित्त कहलाया गया है।

दोनों का मिलान हो करके आत्मा ध्यान एवं समाधि से स्थित हो जाता है।

जगत् में हमारे आने का उद्देश्य ही यह है कि इस संसार में एकाग्र होकर धारणा, ध्यान, समाधि में प्रविष्ट होवें तथा चित्त की

सीमा को नष्ट कर दें। और चित्त के समाधान होने की स्थिति होने पर 'मुक्ति' है।

मन और प्राण दोनों को एक सूत्र में लाने के लिए ब्रह्मचर्य तथा व्रतों का पालन करना अनिवार्य है।

मुनिवरो! आज प्रभु की उपासना करें। हम प्राणायाम करें। ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन को व्यतीत करें। आज जब हम उसकी अच्छी प्रकार रक्षा करते हैं, प्राणायाम के द्वारा रेचक और कुम्भक के द्वारा और कृकल और देवदत्त के द्वारा इस ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हैं तो उसकी ऊर्ध्वगति बन जाती है। मानो जब श्वांसों की गति में सूक्ष्म परमाणु रमण करने लगते हैं तो इडा पिंगला और सुषुम्ना नाम की जो नाड़ियां हैं उन नाड़ियों में ओज उत्पन्न हो करके प्राणायाम करने से उसकी गति प्रबल हो जाती है। हृदय में आनन्द के विशेष अंकुर उत्पन्न होने लगते हैं।

मेरे प्यारे ऋषिवर! आज का हमारा वाक्य क्या कह रहा है कि हम प्राणायाम करें और मन और प्राण को एक सूत्र में पिरोने के अधिकारी बने। प्रत्येक मानव को प्राणायाम करना चाहिए। जो प्राणायाम करता है, उस मानव का जीवन सुन्दर बनता रहता है। प्राणायाम करने के लिए पवित्र आसन हो, आसन कुशा का हो। उस काल में मानव को शनैः शनैः प्राणायाम करना चाहिए। सबसे प्रथम रेचक करना चाहिए, उसके पश्चात् कुम्भक करना चाहिए। कुम्भक के पश्चात् पूरक करना चाहिए। शनैः शनैः अपने प्राण को ऊर्ध्व में ले जाना, शनैः शनैः निचली स्थली में त्यागना, शनैः शनैः उसको अपने में यथा शक्ति कुम्भक कर लेना और रेचक करना। बाहर त्याग करके शान्त हो जाना। ऐसे प्राणायाम करते हुए मानव को प्राण की गति ऊर्ध्व बनाने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

हम यौगिक बनें, योग के क्षेत्र में प्राणायाम करने वाले बनें। प्राण की गति को जानने वाले बनें। यह अभ्यास जब मानव को होता है, ऐसे वह प्राणायाम में रमण करने वाले जब शरीर को त्यागते हैं तो उस मानव की आत्मा देव लोक को प्राप्त होती है।

प्राणायाम 2

प्रायः आजकल मानव का ऐसा विचार है कि 'प्राणायाम' श्वांस प्रश्वांस पर संयम करना, अभ्यास करना ही प्राणायाम का उद्देश्य है, पर वास्तव में प्राणायाम की साधना में अधिकारी होने के लिए बहुत अलग अलग उपाय हैं। उनमें श्वांस प्रश्वांस की क्रिया भी एक उपाय है।

प्राणायाम का यथार्थ अर्थ है (श्वांस प्रश्वांस की गति का विच्छेद होना) फेफड़े की गति का निरोध। इस गति के साथ श्वांस का निकट सम्बन्ध है। यह गति श्वांस प्रश्वांस द्वारा उत्पन्न नहीं होती, वरन् वही श्वांस प्रश्वांस की गति को उत्पन्न कर रही है। यह गति ही पम्प की भांति वायु को भीतर खींचती है। वह मूल इस फेफड़े को चलाता है और फेफड़े की गति ही फिर वायु को खींचती है। अतः उस प्राण शक्ति को वश में लाना ही प्राणायाम का यथार्थ स्वरूप है। (विवेकानन्द)

१४ प्राण की अपान में आहुति

अन्य कुछ साधक प्राण और अपान की गतियों को रोककर प्राणायाम में तत्पर अपान वायु में प्राण की और ऐसे ही प्राण में अपान की आहुति डालते हैं। कुछ साधक नियमित भोजन करने वाले प्राणों की प्राण में हवि देते हैं।

बाहर से प्राण को अधिक मात्रा में लेकर फेफड़ो में शनैः शनैः भर दिया जाता है। अधिक मात्रा में अन्दर गया हुआ प्राण फेफड़ां के अंग अंग में भर जाता है। जो अपान वायु फेफड़ों के किसी स्थान में शेष था, उसके अन्दर वह प्राण प्रवेश कर जाता है। यह ही अपान में प्राण की आहुति है। इसे देर तक ठहराया जाता है, जिसे कुम्भक कहते है। देर तक ठहराने के दो लाभ होते हैं। पहला लाभ तो यह है कि वह प्राण अन्दर के रुके हुए अपान को शुद्ध कर लेता है। द्वितीय इस आभ्यान्तर प्राणायाम के अभ्यास से कुम्भक के समय मन स्थिर होता है।

'प्राण में 'अपान' की आहुति''

बाहर का सब वायु 'प्राण' है। फेफड़ों में से सारे ही अपान को बाहर निकाल दिया जाता है और वहां देर तक उसे प्राण को ठहराया जाता है कुम्भक किया जाता है। गुदा इन्द्रिय का संकुचन किया जाता है। इस प्राणायाम का लाभ यह है कि अपान के बाहर निकल जाने पर शरीर में प्राण तन्तुओं द्वारा फैला हुआ प्राण हृदय की तरफ चलना आरम्भ कर देता है और मन स्थिर होने लगता है।

''प्राण में 'प्राण' की आहुति''

प्राण में प्राण की आहुति डालना तीसरा प्राणायाम है। इसे स्तम्भवृत्ति प्राणायाम भी कहते हैं। प्राण जिस अवस्था में हो उसे पूरक रेचक किये बिना रोक दिया जाता है। सब प्रकार के प्राणायाम अभ्यास में मन को एकाग्र किया जाता है, स्थिर किया जाता है।

वह ही प्राणायाम करने का मुख्य उद्देश्य है॥गीता 4 29॥

१५ ध्यान योग द्वारा द्वितीय विधि

इस विधि में हृदय से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के सब प्राण का नाम प्राण है। हृदय से नीचे के भाग से लेकर पैरों तक के सब प्राण का नाम अपान है। इस विधि में मन को भृकुटी के बीच अथवा ब्रह्मरन्ध्र में एकाग्र किया जाता है। 'मन' को सब वृत्तियों से हटाकर इनमें से किसी एक स्थान पर लगाया जाता है। प्राण जिधर मन स्थिर होने लगता है, उधर नीचे ऊपर दोनों ओर से चलना आरम्भ कर देता है। जब प्राण अपान का अथवा प्राण प्राण का मिलान होता है तो वह ही एक दूसरे की एक दूसरे में आहुति निर्दिष्ट है।

प्राणायाम अभ्यास में भोजन नियत व सूक्ष्म होना अनिवार्य है, खुश्क तथा चटपटे मसाले बीच में न हों। घी की मात्रा भी अधिक न हो।

ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान अति अनिवार्य है। 'आत्मानन्द'

एकान्त स्थली में पवित्र आसन पर विराजमान होकर मूलबन्ध में स्थिर होवें। तत्पश्चात् बांई नासिका के स्वर से पूरक अथवा श्वांस भरे, और बिना कुम्भक किए दाहिनी नासिका की ओर से शनैः शनैः श्वांस छोड़ें, रेचक करे और रेचक प्रारम्भ करते ही गुदा संकोचन भी करे, तथा रेचक में संख्या की गणना करता रहे। ओ३म् 1, ओ३म् 2, ओ३म् 3। इस प्रकार वह रेचक अभ्यास कम से कम 30 की गणना से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर 60 अथवा 100 तक पहुँचा देने में श्वांस प्रश्वांस की गति शनैः शनैः सूक्ष्म होने लगेगी। साधक को यह अनुभव होगा कि श्वांस प्रश्वांस की ध्वनि मन्द हो रही है। श्वांस प्रश्वांस का वजन (ॅम्प्ळभ्ज्) शनैः शनैः हल्का हो जावेगा। इस क्रिया में ''मन'' संख्या गणना में एकाग्र हो जाता है। शनैः शनैः अभ्यास को बढ़ावें अन्यथा हानि भी हो सकती है। अब पुनः दाहिनी नासिका से श्वांस भरे और बिना कुम्भक किए बाईं नासिका से रेचक करे और संख्या की गणना करे। यह एक प्राणायाम और ऐसे पांच या सात प्राणायाम से प्रारम्भ करना चाहिए। नासिका छिद्रों को अंगुली से बन्द नहीं करना होगा वरन् मन के संकेत पर स्वर बन्द अथवा खुला सहज हो जाता है। यह कठिन नहीं है। ''सच्चिदानन्द सरस्वती''

स्वर विज्ञान

पुष्प 28 मुनिवरो! देखो एक वशिष्ठ स्वर है, एक विश्वामित्र स्वर है। एक को सूर्य स्वर तथा दूसरे को चन्द्र स्वर कहा जाता है। ये दोनों स्वर सूर्य व चन्द्रमा की गति के आधार पर चला करते हैं। सूर्य स्वर ऊष्ण व चन्द्रमा स्वर शीतल रहता है।

इन दोनों प्रकार की गति को जानने वाला समय को जान लेता है कि कितना समय हुआ है। कितने समय में गमन करना है। कितने समय में कौन सा स्वर चलता है। तथा कितने समय में इसका परिवर्तन होता है।

इन स्वरों में भी नाना प्रकार के भेद हैं। जैसे चन्द्रमा के साथ पुष्य नक्षत्र है, ज्येष्ठा नक्षत्र है, इनका मिलान है, उस समय चन्द्र स्वर ढाई घड़ी रहेगा।

2 यदि चन्द्र स्वर के साथ शनि प्रकोप है और सूर्य की छाया आ रही है, पृथ्वी की गति मन्द है, वह लगभग 13 और 8 घड़ी रहती है।

3 चन्द्र स्वर के आधार पर सूर्य के गर्भ में यदि पुष्य नक्षत्र है, स्वाति नक्षत्र की छाया है, पृथ्वी की गति तीव्र होती है उस समय सूर्य की गति ढाई घड़ी रहती है।

4 यदि सूर्य के गर्भ में शनि की छाया है और पुष्य नक्षत्र है, चन्द्रमा की गति मन्द है तो उस समय सूर्य स्वर की गति 13 13 घड़ी तक चली जाती है।

उस मानव का सौभाग्य है, जिसकी सूर्य की गति तीव्र होती है क्योंकि मानव विशेष स्वस्थ रहता है। इसलिए योग अभ्यासी चन्द्र स्वर को विशेष गति पर लाते हैं। जो योगी सूर्य स्वर से प्राणायाम करता है, वे प्राण की गति को जानते हैं।

स्वरों का मिलान नाभि केन्द्र से किया जाता है और ब्रह्मरन्ध्र तक चलता है। सूर्य में विशेष गति होने से ब्रह्मरन्ध्र की पंखुड़ी गति चक्र से टकराती व विशेष गति होती है।

स्वर विज्ञान के जानने वाले भविष्य, वर्तमान को जानने लगते हैं। वह अमुक मानव को जो उनके समीप आया है, बता सकते हैं कि वह मेरे पास अमुक कार्य के लिए मेरे द्वार आया है।

1 प्राण को वेग से बाहर निकालने रेचक और विधारण कुम्भक से मन निर्मल व स्थिर होता है।

2 उस प्राणायाम साधने से प्रकाश का जो आवरण है, वह क्षीण हो जाता है।

3 प्राणायाम में तपते रहने से 'धारणाम्' में मन की योग्यता हो जाती है।

4 जैसे अग्नि में धोंके हुए सुवर्णादि धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं। वैसे ही प्राण के निग्रह से इन्द्रियों के दोष दग्ध होते है। 'मनु'

१६ प्रत्याहार

हम अपने चित्त की विशेष अवस्था को जानने का प्रयास करें, क्योंकि वह जो चित्त है, उस चित्त का निर्माण ही भ्रमात्मक है। उस सीमा को नष्ट करने का प्रयास करें। हमारे द्वारा जो अन्तर्द्वन्द्व है वह समाप्त हो जाएं। तो बेटा! जब वह अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने लगेगा, उस समय हम धारणा ध्यान और समाधि में लय होने लगेंगे।

समस्त बहिर्मुख विषय व वृत्तियां जब चित्त में लय होने लगें, उसी को 'प्रत्याहार' और ''निर्विषयं मनः'' को ''ध्यान'' कहते हैं।

वैराग्य और अभ्यास दोनों से बहिर्मुख वृत्तियों का निरोध होता है। ''पतंजलि''

उस वैराग्य द्वारा अन्तर्देश में मार्ग बनाया जाता है और अभ्यास से बहिर्मुख वृत्तियों को रोक कर अन्तर्मुखी मार्ग में उन वृत्तियों को चलाया जाता है। जो 'प्राण' बहिर्मुख अवयवों को शक्ति प्रदान करते हुए संचालन कर रहे थे, वह ही प्राण शक्ति मन की सहकारिता में बाहर की क्रियाओं को बन्द कर देती है और अन्तर्मुख चक्रों में कार्य होना प्रारम्भ हो जाता है।

जिस प्रकार एक नहर का जल प्रवाह किसी दूसरी दशा में फेर देने के लिए, उस ओर का मार्ग बनाया जाता है, तत्पश्चात् उस जल प्रवाह को बांध लगाया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह एकत्रित जल प्रवाह जब दूसरे मार्ग पर चलाया जाता है तो अत्यन्त वेग से प्रवाहित होता है।

उस योग में अमूल्य निधि को पाने के लिए 'वैराग्य' और 'अभ्यास' अनिवार्य है। जिस प्रकार पक्षी दोनों ही पंखों से उड़ान भर सकता है। एक के अभाव में पक्षी की भांति योग अभ्यासी लंगड़ा रहता है। 'वैराग्य' वितृष्णास्य वशीकार संज्ञा तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान के निरन्तर व दीर्घ काल पर्यन्त अभ्यास द्वारा प्राप्त होना सम्भव है। ''क्रिया योग'' अनुष्ठान के लिए योग दर्शन में द्वितीय बार संकेत किया है।

आहार पर नियन्त्रण होना परम आवश्यक है। 'अभ्यास' के लिए ब्रह्मचर्य व्रती होना चाहिए, अन्यथा राजयोग में खतरा है। इसके अभाव में निरन्तर योग के बहिरंग योग में ही तपते रहना चाहिए। बहिरंग योग के अनुष्ठान से उत्तरोत्तर ज्ञान की प्रदीप्ति होती है।

धारणा

पुष्प 18 मुनिवरो! संसार में यदि कोई मन से शक्तिशाली वस्तु है तो वह प्राण कहलाया जाता है। उस धारणा में (मन व प्राण की सहकारिता में) जो प्रकाश आता रहता है, आत्मा का प्रकाश ज्यों ज्यों आता है त्यों त्यों मानव समाधिस्थ होता रहता है। यह जो प्रपंच है, उससे वह योगी उदासीन हो जाता है।

किसी देश विशेष के एक तत्व में मन को बांधना, स्थिर कर देना 'धारणा' कहलाता है। जो शक्ति अन्य वृत्तियों में बिखर रही होती है, बटी होती है, जब उन वृत्तियों पर अधिकार हो जाता है, तो वह प्राण शक्ति एक तत्व की साधना में महान् शक्तिशाली होती है। जिस प्रकार बाण को चलाने वाला एक िचत्त जैसा होता है। उस समय वह लक्ष्य को छोड़कर अन्यमना नहीं होता। वैसे ही एक चित्त हुए अभ्यासी की आगे समाधि सिद्ध हो जाती है।

ध्यान योग

पुष्प 12 मुनिवरो, जो मानव ध्यान योग में जाता है, ध्यान में रमण करने लगता है और वह यदि ज्योति का ध्यान करता है और वह ज्योति में जैसा भी आकार देखो वह ही आकार तुम्हें प्रत्यक्ष होने लगता है, उसका कारण यह कि वह ज्योति में प्राण और आत्मा दोनों का सम्बन्ध होने से जो भी दृश्य तुम अनुभव करोगे वह ही उस ज्योति में अनुभव होगा। क्यों आयेगा? उसका कारण यह है कि उस ज्योति का सम्बन्ध प्राणां से भी है। आज तुम 'ओ३म्' का आकार देखना चाहते हो, तो तुम्हें वह आकार अनुभव होने लगेगा।

उस धारणा में ज्योति की एक प्रवाहिता (ध्यानम) ध्यान है। इस स्थिति में ध्याता, ध्यान, ध्येय (तीनों) रहते है। और जब ध्येय ही प्रकाशता हो, वह ही समाधि है।

धारणा, ध्यान, समाधि (संयम) के जय होने पर योगीजन का जैसा संकल्प होता है, उसी में संलग्न रहते हैं। अन्त में उस प्रभु से

मिलान (योग) संकल्प के उदय होने पर उसी को साक्षात् कर लेते हैं। यह ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। उस परमपिता परमात्मा के साक्षात्कार में उस मानव के मिथ्या ज्ञान की, वासना की गांठें टूट जाती हैं, स्पष्ट हो जाती हैं और शेष कर्म सब समाप्त हो जाते हैं। योगियों का व योग का यह ही उद्देश्य है कि जो अविवेक है, जो चित्त है वह प्रकृति की सीमा नष्ट होकर आत्मा अपने सखा से मिलान कर ले। चित्त की सीमा की समाप्ति क्या है? कि प्रज्ञा लोक जो आत्म स्वरूप है, उस प्रशान्त अवस्था में चला जाये!

१७ योग में अबाध गति

योगी कौन होता है

महर्षि वशिष्ठ जी महाराज ने कहा कि योगी उसे कहा जाता है जो अपने को ब्रह्म की निष्ठा में सदैव निष्ठावान रहता है। हृदय में ही 'ब्रह्म' को दृष्टिपात करता है।

योग की भिन्न भिन्न प्रकार की गति मानी गई है। हमें योग की उन सिद्धियों में नहीं जाना चाहिए जो प्रकृति में हमें तन्मय करा देती है, प्रकृति के क्षेत्र में महिमावादी बना देती है। सिद्धियों के क्षेत्र में जो योगी चला जाता है, उसका विनाश हो जाता है, उसकी आत्मा का हनन हो जाता है। वह संसार में तो प्रसिद्ध हो सकता है परन्तु आत्मिक क्षेत्र से दूर हो जाता है।

पुष्प 3 चक्रों में आत्मा को रमण करना प्राण में मन का मिलान करना 'धारणा' है, यहीं से योग प्रारम्भ होता है।

यौगिक क्रियाओं के लिए सर्वप्रथम प्राणायाम की आवश्यकता है। जब यह आत्मा प्राणों सहित कुम्भक रेचक द्वारा मूलाधार में पहुँचता है तो वह प्राणां की प्रगति ऊँची हो जाती है और मानव को प्रतीत होने लगता है कि हमारा शरीर किन तत्त्वों से बना है और इस स्थान पर क्या क्या कार्य हो रहा है। आगे बढ़ता हुआ यह आत्मा नाभि चक्र में पहुँचता है जो शरीर का केन्द्र माना जाता हैं यहाँ प्रतीत होता है कि हमारे शरीर में यह कितनी महान् विचित्रता है। उस परमात्मा ने इनको कैसे बनाया है। आगे बढ़ता हुआ यह आत्मा हृदय चक्र, कण्ठ चक्र, घ्राण चक्र, त्रिवेणी चक्र, ब्रह्मरन्ध्र और शून्य चक्र में जा पहुँचता है। धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा मन को इतना शान्तिमय कर लेते हैं कि ये तन्मात्राएं सब मन में लय हो जाती हैं, मन बुद्धि में लय हो जाता है, बुद्धि अन्तःकरण में लय हो जाती है। इन सबका समूह बनाकर यह आत्मा इन सबके ऊपर सवार हो जाता है और जब इसने क्रिया की, उसमें रमण करने लगा तो योगियों के लिए यह खिलवाड़ का विषय बन जाता है।

एक समय मेरे गुरुदेव ने कहा था कि बेटा! जिस समय आत्मा प्रभु का अनुभव करता है, उस समय यह आत्मा विस्तार वाला बन जाता है और जब परमात्मा के आंगन से अपने आंगन में जाता है तो वह जो इन्द्रियां शून्य हो चुकीं थीं पुनः कार्य करने लगती हैं। वाणी में शुद्धता आ जाती है, घ्राण सुगन्धि वाली हो जाती है और उस अभ्यासी में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं रहती। प्रकृति पर शासन हो जाने से उस योगी की यह गति हो जाती है कि श्वांस भी अपने अधीन हो जाता है, जिसे हम प्राण कहते हैं।

मुनिवरो! ऋषियों ने कहा है कि जब योगी प्राणों को अपने अधीन कर लेता है, उस समय वह आत्मा जल में, वायु में रमण कर सकता है, जिस प्रकार यन्त्रों से बना हुआ पुष्पक विमान अन्तरिक्ष में रमण करता है। प्राणों पर आत्मा सवार हो जाता है और मन की गति पीछे चली जाती है।

जब आत्मा मन और प्राण के ऊपर सवार हो जाता है उस समय वह अपने प्रभु से मिलान के लिए चल देता है, उस समय यह संसार यह मानव शरीर का नृत्य समाप्त हो जाता है और वह शनैः शनैः जब कुण्डिलनी मूलाधार में रमण करता है तो आत्मा की रूप रेखा बहुत सूक्ष्म बन जाती है और सूक्ष्म बन जाने के कारण वहां जिसको रीढ़ की हड्डी (सुषुम्णा) कहते हैं। उसमें प्रकृति का मण्डल ब्रह्म का मण्डल और इन महान् तन्मात्राओं का सूक्ष्म रूप बन करके वह महान् आत्मा निर्लेप होकर परमात्मा का दर्शन करता है, उस प्रभु की गोद में होता है, जिसके मिलान में वह मिथ्या ज्ञान की ग्रन्थियां स्पष्ट हो जाती है।, कर्म भोग समाप्त हो जाते हैं। सर्व संशय दूर हो जाते हैं। यह ही मानव जीवन का व योगी का परम् उद्देश्य है।

'ब्रह्म' के ध्यान में लय हो जाने को ही योग समाधि कहा जाता है। वह ही आन्तरिक सूर्य वेद ज्ञान रूपी ज्योति है, जो प्रकाश देती है, और जो केवल लोक लोकान्तरों के दर्शन व तारतम्य में संकल्प वाले रमण करने लगते हैं। वे अपने लक्ष्य से पीछे रह जाते हैं। योगियों का जैसा संकल्प रहता है, उसी गति को प्राप्त होते हैं। वह संकल्प ही ऊंचे शिखर पर पहुँचा देता है।

''ईश्वर प्रणिधान'' में ज्योतिर्मय प्रकाश (समाधि) सिद्ध होती है। जब भगवान राम ने कहा क्या हृदय में 'ब्रह्म' की व योगी की प्रतिष्ठा है? महर्षि वशिष्ठ जी महाराज ने उत्तर में कहा कि योगी तो उसे ही कहा जाता है जो परमात्मा को कण कण में, व्यापक रूप में

दृष्टिपात करता रहता है। अन्त में योगी का अन्तर्मन खो जाता है, और वह कहता है कि यह सब जगत् ब्रह्ममय है। जब योगी की इस प्रकार की पराकाष्ठा हो जाती है तो वह महान् बन जाता है। नाना प्रकार की विचार धाराओं को जानने के पश्चात् हमारा जीवन सदैव उस महान् प्रभु के आनन्द में संलग्न हो जाना चाहिए क्योंकि बिना प्रभु के हम कोई कार्य सफलता से नहीं कर सकते। जितनी भी हमारे जीवन की प्रतिभा है उस सबके आनन्द का केन्द्र केवल ब्रह्म माना गया है। (पुष्प 17, 19)

वह परमात्मा आनन्द का इतना महान् स्रोत है कि जब उसकी महिमा का वर्णन करने लगते हैं तो इन्द्रियां शान्त हो जाती हैं, हृदय और मस्तिष्क उस परमात्मा में ही ओत प्रोत प्रतीत होते हैं। हम नाना प्रकार की विडम्बना को त्यागकर उसकी महिमा का गुणगान गाते रहें।

हमें योग में सन्देह नहीं होना चाहिए। योग में परिणत होने की हमारी प्रबल इच्छा होनी चाहिए और उस परमात्मा के प्रति नाना प्रकार के बाह्य आडम्बरों को अपने में शान्त करते चले जाएं।

१८ ब्रह्मरन्ध्र में नाद

पुष्प 11 आज मुझे मेरे प्यारे महानन्द जी बाध्य करते चले जा रहे हैं। मैंने बहुत पूर्व काल में यौगिक परिक्रियाओं का वर्णन करते हुए कहा था कि आज प्रत्येक मानव योग की घोषणा करता रहता है। मुझे स्मरण है, आदि ब्रह्मा ने योग को किस प्रकार जाना, आदि शिव ने योग को किस प्रकार जाना, परन्तु इसे उच्चारण करने की मुझे आवश्यकता नहीं है। मुझे एक वाक्य स्मरण आता रहता है कि योग में जो शब्दों की रचना है वह भी हमारे ऋषि मुनियों ने योग के द्वारा ही प्राप्त की है क्योंकि जब शब्दों की रचना होती है, प्रारम्भ में जब शिक्षार्थी शिक्षालय में जाता है तो वह स्वर व व्यंजन का अभ्यास करता है। वह क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई तो बेटा! वह भी सृष्टि में ब्रह्मा ने योग के द्वारा की, जो ब्रह्मरन्ध्र में नाद होता है, उसकी जो ध्वनि होती है, उन ध्वनियों से शब्दों की रचना होती है। उस ध्वनि को कैसे जाना जाता है, इस पर अध्ययन की आवश्यकता है। यह तो अनुभव का विषय रह जाता है।

शिवालय की रूप रेखा क्या है? वह ब्रह्मरन्ध्र ही तो आन्तरिक एक मन्दिर है, मानव के सिर पर जो शिखा है, वह मानो उस मन्दिर की ध्वजा है और जो उस ब्रह्मरन्ध्र में जो योगियों के लिए अनहद नाद होता है वह मानो घंटे घड़ियाल की ध्वनि हो रही है। वह परमपिता परमात्मा ही शिव है, आत्मा पुजारी बनकर बैठा हुआ है। उस ब्रह्मरन्ध्र रूपी मन्दिर में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश प्रदीप्त होता है व आत्मा उस परमपिता परमात्मा के ज्योतिर्मय महिमा को देखकर उसकी आराधना करता है, आरती करते हुए गद्गद् होने लगता है।

१९ जीवन मुक्त

पुष्प 10 मुनिवरो! हमारे यहाँ दो प्रकार के महापुरुषों का वर्णन आता रहता है। एक तो महापुरुष वे होते हैं, जिनका जीवन सदैव ब्रह्म में तल्लीन रहता है। वे अपनी पुरी के नव द्वारों को जानने के लिए तत्पर रहते हैं, उसमें तल्लीन रहते हुए अन्तरात्मा और प्रभु का मिलान करने में ऊर्ध्व गति में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। प्रकृति के कण कण में 'ब्रह्म' को दृष्टिपात किया जाता है। दूसरे महापुरुष वे होते हैं जो जनता जनार्दन में ही मानो अपने को क्या उस ब्रह्म को स्वीकार कर लेते हैं। जनता जनार्दन में ही उनकी समाधि लग जाती है मानो वह अपने जीवन को इस प्रकार का बना लेते हैं कि जिसमें द्वेष की भावना नहीं होती, उस प्रभु की महिमा को ही जनता जनार्दन में अनुभव करते हुए जल में कमल की भांति क्रिया कलाप करते हुए अपने को समाधिस्थ करते हुए विराजमान रहते हैं। भगवान राम के जीवन में सदैव कितनी पवित्रता थी कि वह संग्राम भी कर रहे, परन्तु जनता में उनकी विचित्र पराकाष्ठा थी। लंका को विजय करने के पश्चात् भी उनके विधाता को लंका को अर्पित कर दिया। भगवान मनुः ने राष्ट्र का निर्माण किया और अपनी महानता का दिग्दर्शन करते हुए विराजमान रहे, मुझे नाना महापुरुषों का जीवन स्मरण आता रहता है। जब मैं उन महापुरुषों की चर्चाओं पर जाता हूँ तो हमारा हृदय गद्गद् होने लगता है। विचार विनिमय यह कि जो जनता में ही समाधिस्थ रहतें हैं वह विचित्र माने गए है।

जीवनमुक्त के चित्त की निरुद्ध अवस्था यह है कि वह आत्मा के रूप को धारण कर लेता है, उसमें प्रशान्त व संतुष्ट रहते हुए स्थिर रहता है। वे अन्य जनता को उपदेष्ठा रूप में भी होते हैं।

तो मुनिवरो! अब हमारा वाक्य समाप्त हो रहा है। आज प्रभु के जगत् में प्रत्येक मानव साधक बनने के लिए आया है। साधक बनना है। साधना करना ही हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। साधना करते हुए हम इस संसार सागर से पार हो जाएं। आज का वाक्य समाप्त, अब वेदों का पाठ होगा।

॥ ओ३म् नमः ॥